जीवन और संस्कृति

संपादक

डॉ. तुलसी रमण

हिमाचल कला संस्कृति भाषा अकादमी

किन्नौर

जीवन और संस्कृति

हिमाचल कला संस्कृति भाषा अकादमी

क्लिफ ऐण्ड एस्टेट, शिमला - 171001

किन्नौर

जीवन और संस्कृति

संपादक
डॉ. तुलसी रमण

सह संपादक
गिरिजा शर्मा

ISBN : 81–86755–62–4

प्रकाशक : सचिव
हिमाचल कला संस्कृति भाषा अकादमी शिमला,
171001 हि. प्र.

प्रथम संस्करण : 2011

मूल्य : ₹ 225.00 सजिल्द
₹ 125.00 पेपरबैक

आवरण : हिम चटर्जी

कम्पोज़िंग : रविन्द्र नाथ

मुद्रक : भारत ऑफसेट वर्क्स
3550, जाटवाड़ा स्ट्रीट, दरयागंज
नई दिल्ली - 110 002

Kinnaur : Jeewan aur Sanskriti

Editor : Dr. TULSI RAMAN

Published by : Secretary, Himachal Academy of Arts, Culture & Languages, Shimla-171001

Edition : 2011

Price : ₹ 225/-

Paperback ₹ 125/-

आमुख

प्रेम कुमार धूमल

मुख्यमन्त्री हिमाचल प्रदेश एवं अध्यक्ष, हिमाचल अकादमी

हिमाचल का किन्नौर क्षेत्र कई स्तरों पर अपनी विशिष्ट पहचान रखता है। यहाँ का भूगोल, पर्यावरण, भाषा, खान-पान और रहन-सहन हिमाचल ही नहीं, अपितु समस्त भारत में अनूठा है। इसीलिए किन्नौर का अपना महत्त्व है, इसकी अपनी गरिमा है। यह महत्त्व आज से नहीं, अनादि काल से है। भारतीय पुरातन इतिहास व साहित्य में इस क्षेत्र का उल्लेख वैदिक काल से मिलता है। मानसरोवर से निकलने वाली जिस सतलुज की घाटियों में किन्नौर बसा है, इस महान नदी का उल्लेख शुतुद्री और शतद्रु के नाम से ऋग्वेद से लेकर महाभारत तक है। किन्नौर का कैलास शिखर यहाँ के देवताओं का भी तीर्थ है। लोक मान्यता है कि पर्व विशेष में देवी-देवता किन्नौर की जनता के लिए इस कैलास से फल-फसल और सुख-साधन की सौगात लाते हैं। इस तरह किन्नौर वास्तव में देव-भूमि है।

सतलुज किन्नौर की आत्मा है तो हिन्दुस्तान-तिव्वत रोड इसकी जीवन-रेखा और कैलास यहाँ के जन मानस का आस्था-बिन्दु है। किन्नौर के समाज की महत्त्वपूर्ण विशेषता यह भी है कि यहाँ हिन्दू तथा बौद्ध दोनों धर्मों के अनुयायी एक साथ हो जाते हैं। इस क्षेत्र में हिन्दू और बौद्ध देवताओं की समभाव से पूजा-अर्चना होती रही है।

स्वतंत्रता से पूर्व इस सीमांत क्षेत्र में तिब्बत के साथ व्यापार की परम्परा थी। वह व्यापार भी जीविका का एक अच्छा साधन था। लेकिन आज किन्नौर में दूर-दराज तक सड़कें पहुँच गई हैं। संचार के तमाम साधन मौजूद हैं। अब भारत के मैदानी क्षेत्रों से किन्नौर का सीधा सम्पर्क है। विकास की इस गति के साथ, बहुत कुछ पुरातन पीछे छूट जाता है। लेकिन किन्नौर के लोगों ने अपनी जनजातीय संस्कृति का आज भी ऐसा बहुत कुछ मूल्यवान बचाये रखा है, जिसके नष्ट होने की चिन्ता किन्नौर के जन-नायक स्व. ठाकुर सेन नेगी ने अपने लेखों में व्यक्त की है।

यह प्रसन्नता की बात है कि हिमाचल अकादमी की ओर से 'किन्नौर : जीवन और संस्कृति' शीर्षक से यह एक ऐसी पुस्तक प्रकाशित की जा रही है, जिसमें इस भू-भाग के जीवन और कला-संस्कृति पर महत्त्वपूर्ण लेख संकलित-संपादित किए गए हैं। यह पुस्तक किन्नौर की धरती और यहाँ के समाज तथा संस्कृति को लेकर पाठकों के लिए एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज़ की तरह उपयोगी सिद्ध होगी।

प्राक्कथन

मनीषा नंदा

प्रधान सचिव (भाषा-संस्कृति) एवं उपसभापति, हिमाचल अकादमी

किन्नौर हिमाचल प्रदेश का एक सीमांत ज़िला है। इसके पूर्व में तिब्बत और दक्षिण में उत्तरकाशी के क्षेत्र पड़ते हैं। पश्चिम हिमालय की ऊँची शृंखलाओं के मध्य बसे किन्नौर की हर घाटी अपने में विलक्षण है। यहाँ प्रकृति और संस्कृति का चोली-दामन का साथ है। सतलुज का पुराना नाम शतद्रु यानी शतधारा, इसलिए भी सार्थक रहा कि यहाँ के ऊँचे शिखरों से निकलकर सैंकड़ों जलधाराएँ, चट्टानों और ढलानों को नहलाती, सतलुज में आ मिलने की उतावली में छल-छलाती उतरती हैं। इस बीच किन्नौर के लगभग हर बड़े गाँव में स्थानिक देवदार की लकड़ी और प्रस्तर से निर्मित पहाड़ी शैली के मंदिरों और बौद्ध गोन्पाओं की परिधि में समृद्ध सांस्कृतिक विरासत संरक्षित है।

किन्नौर के जनजीवन में वर्ष भर मेले-त्योहारों की हलचल बनी रहती है। देवताओं के रथ बाजे-गाजे के साथ क्षेत्रीय यात्राओं पर निकलते हैं और फिर किसी भी सन्तङ् में गाने-बजाने और नाचने का उल्लास देखते ही बनता है। किन्नौर के लोगों की वेशभूषा और रहन-सहन का अपना आकर्षण है। सिर पर फूलों-सजीं टोपियाँ पहने, अनेक आभूषण धारण करके, किन्नौर की स्त्रियाँ जब गीत गाते हुए माला-नृत्य करती हैं और इस बीच देवताओं के मोहरों से सज्जित चमकते रथ भी नाच उठते हैं तो किन्नौर का सांस्कृतिक दृश्य सामने होता है। किन्नौर के स्त्री-पुरुष जहाँ कृषि, बागवानी और पशुपालन में सक्रिय रहते हैं, वहीं कला-संस्कृति के क्षेत्र में भी हमेशा आगे रहे हैं।

पश्चिम हिमालय की ऊँची पर्वत शृंखलाओं के मध्य बसे किन्नौर की हर घाटी अपने में विलक्षण है। यहाँ के प्राकृतिक और सांस्कृतिक परिदृश्य के कारण ही प्राचीन काल से यात्री लेखक, लामा, साधु और पर्वतारोही से लेकर व्यापारी तक इस क्षेत्र में विशेष रुचि से आते रहे हैं।

'किन्नौर : जीवन और संस्कृति' शीर्षक से हिमाचल अकादमी द्वारा प्रकाशित की जा रही इस पुस्तक में यहाँ की प्रकृति, भाषा, कला, धर्म-संस्कृति आदि विभिन्न विषयों पर जो लेख दिए गए हैं, ये किन्नौर पर केंद्रित गंभीर शोध का प्रतिफल है, जो अपने में रोचक भी है। आशा है अकादमी के इस प्रकाशन को पाठक पसंद करेंगे।

प्रस्तावना

डॉ. तुलसी रमण

सचिव, हिमाचल अकादमी

पूर्व में तिब्बत की सीमा से जुड़ा किन्नौर का जनजातीय भू-भाग पश्चिमी हिमालय में पौराणिक गतिविधियों का केन्द्र रहा है। अनेक पुराण, रामायण, महाभारत आदि संस्कृत ग्रंथों में किन्नर खंड का उल्लेख मिलता है। अतीत में यह किन्नर खंड पूर्व में गंगा-यमुना के उद्गम से लेकर, पश्चिम में चंद्रभागा के मूल स्रोत तक विशाल पर्वतीय क्षेत्र में फैला था। किन्नौर के आकाश में करीब 22 हज़ार फुट ऊँचा कैलास हिन्दू तथा बौद्ध समाज की आस्था का केन्द्र-बिंदु है। हिन्दुओं के लिए यह शिखर शिव-पार्वती का निवास स्थान है तो बौद्ध इसे चक्रसंवर और वज्रवाराही का अधिष्ठान मानते हैं। यह शिखर किन्नौर के सभी लोक-देवताओं का भी सर्वोच्च पवित्र स्थल है। कैलास के घेरे में किन्नौरी लोक विश्वास और यहाँ का सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन सब एकलय होकर चलता है।

किन्नौर के जीवन और संस्कृति में लोक-देवताओं की प्रमुख भूमिका रहती है। मगर यह भी उल्लेखनीय है कि ये देवी-देवता मनुष्य जीवन और समाज पर अपना कुछ आरोपित नहीं करते, बल्कि आँचलिक समाज में परम्परा से जो रीति-रिवाज़, देशाचार, रहन-सहन और सामाजिक व्यवहार के नियम-कायदे देश-काल के अनुकूल बनते आए हैं, उन्हीं के निर्वाह के लिए देवताओं की ये ग्राम स्तरीय संस्थाएँ सुदृढ़ व्यवस्था प्रदान करती हैं। वास्तव में लोक-देवता की प्रतिमा, उसका रथ, मंदिर और देव संस्था के समस्त विधान स्थानिक जन-समूह द्वारा ही निर्मित और संचालित होते हैं। क्षेत्रीय जलवायु और परिवेश के अनुकूल किन्नौरों के जो प्रिय पेय और भोज्य पदार्थ हैं, वे पहले देवताओं को अर्पित किए जाते हैं। इनमें फल, फसल, घरेलू सुरा और पशु बलि जैसा सब शामिल रहता है।

किन्नौर में लोक-देवताओं के भी अपने परिवार और सम्बंधी देवता हैं। ऊपरी किन्नौर में सबसे शक्तिशाली छितकुल की देवी 'माथी' के पति, ज्येष्ठ और दामाद भी देवता हैं तो निचले किन्नौर में बाणासुर और हिडिम्बा की संतानें शक्तिशाली देवी-देवता के रूप में कई ग्राम-मंदिरों में स्थापित हैं। इनमें सबसे छोटी पिरासन 'नदीवाली देवी' के नाम से भी जानी जाती है और वह कई लोक-देवताओं को अपने प्रेम-पाश में फँसाने के हुनर के लिए चर्चित रही है। इस तरह किन्नौर के देवी-देवताओं का भी सामान्य जन की तरह अपना समाज-व्यवहार है। उनके भी

प्रेम सम्बंध और विवाह के रोचक प्रसंग हैं। यहाँ के देव-समाज और जन-समाज परस्पर प्रतिबिंबित होते हैं। मेले-त्योहारों के अवसरों पर देवी-देवता और किन्नौर के लोग एक साथ झूमते-नाचते हैं। परस्पर प्रेरक होकर इतने घुले-मिले रहते हैं कि देवता और मनुष्य के सम्बंधों के ताने-बाने से ही किन्नौर की सामाजिक व्यवस्था और संस्कृति का अनूठा रूप बनता है।

वैदिक नदी शतद्रु यानी आज की सतलुज और हिन्दुस्तान-तिब्बत रोड किन्नौर के जीवन और संस्कृति को जीवंत रखनेवाली दो मुख्य शिराएँ हैं। भारत और तिब्बत को व्यापार और सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवहार के विभिन्न स्तरों पर जोड़नेवाली इस सड़क के बहाने हिमालय प्रेमी लेखक प्रो. कृष्ण नाथ ने ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में किन्नौर का जो समाज-आर्थिक अध्ययन प्रस्तुत किया है, इसमें पारम्परिक किन्नौरी समाज से लेकर आज के सांस्कृतिक विघटन तक का विश्लेषण स्थानीय वरिष्ठ सुधी-जनों से बातचीत के माध्यम से भी पुष्ट हुआ है। प्रो. कृष्ण नाथ का विश्वास है कि भारत-तिब्बत के मध्य व्यापार के फिर खुलने से किन्नौर की अर्थव्यवस्था में खोई हुई चमक वापिस लौट सकती है।

मानसरोवर से निकलकर बहनेवाली सतलुज के अंग-संग किन्नौर के जन-जीवन का सतत प्रवाह है। इस अँचल के भूगोल को नापनेवाली यह नदी, यहाँ के जनमानस में किस तरह रची-बसी है, किन्नौर के मूल निवासी लेखक विद्यासागर नेगी इस रहस्य का उद्‌घाटन लोकवार्ता के माध्यम से करते हैं। सतलुज और इसमें मिलनेवाले बासपा, बंगर और पिनगर जैसे नदी-नाले जिस तरह किन्नौरी समाज की दंतकथाओं और जनश्रुतियों में जीवंत पात्र बनकर सामने आते हैं, यह प्रकृति और मनुष्य के शाश्वत सम्बंध को प्रमाणित करने जैसा है। एक नदी अपने अँचल विशेष के बहुआयामी मनुष्य जीवन और समस्त प्रकृति व संस्कृति को किस तरह सिरजती है, यह सब 'किन्नौर की वादियों में सतलुज' के वर्णन प्रवाह से ज्ञात होता है।

एक शिक्षक के रूप में कई सालों तक किन्नौर में सेवा करनेवाले पी.एन. सेमवाल ने इस जनजातीय क्षेत्र के समाज और संस्कृति को लेकर गंभीर अध्ययन किया है। उनकी महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'पश्चिम हिमालय क्षेत्र के अतीत की झाँकी' में अनेक शोधपूर्ण लेख हैं और इस पुस्तक में भी 'कैलास पर्वत' और 'सन्तङ्' पर उनके दो महत्त्वपूर्ण लेख लिए गए हैं। किन्नौर कैलास को लेकर अनेक लोक विश्वास हैं। शिव और देवराज इन्द्र से सम्बंधित कई उपाख्यान कैलास से जुड़े हैं। लोक मान्यता है कि इस कैलास पर शिव के आसन के साथ इन्द्र का दरबार भी है। किन्नौर के सभी देवता मकर संक्रांति को कैलास पर इन्द्र की सभा में भाग लेने के साथ शिव के दर्शन भी करते हैं। किसी भी पर्व या त्योहार के अवसर पर कैलास की पूजा सबसे पहले होती है। वास्तव में किन्नौर का यह कैलास पर्वत-पूजा का स्पष्ट दृष्टांत प्रस्तुत करता है।

सेमवाल ने 'सन्तङ्' को बौद्ध कालीन 'संथागार' के समान संवाद और सांस्कृतिक गतिविधि का सार्वजनिक स्थल माना है। यह देव संस्था के साथ जुड़ा सामाजिक जीवन का ऐसा केन्द्र-बिन्दु है, जिसमें जन-सभाएँ और परम्परा से चले आ रहे सांस्कृतिक कार्यक्रम सम्पन्न होते हैं। इस स्थान पर बैठकर ही पारम्परिक न्याय प्रणाली के अनुसार झगड़ों का निपटारा किया जाता है। देवता के रथ और प्रवक्ता यानी 'माली' के सामने आम जनता बैठती है और भरी सभा में फ़ैसले सुनाये जाते हैं। इसमें देवता के साथ जनता का संवाद होता है। जनजातीय प्रजातांत्रिक राज्य व्यवस्था के अवशेष के रूप में भी इस 'सन्तङ्' को देखा जा सकता है।

ठाकुर सेन नेगी किन्नौरी जीवन और संस्कृति के मर्मज्ञ रहे हैं। अपने किन्नौरी समाज की बोली-बानी और पर्व-त्योहारों के प्रति उनका आत्मिक लगाव रहा। उनका कहना है कि 'किन्नौर का कोई त्योहार ऐसा नहीं होगा, जिसमें देवी-देवताओं की कोई न कोई भूमिका न हो, और वह क्या किन्नौरा जिसे फूल प्यारा न हो, गाने-बजाने, नाचने-नचाने का शौक न हो... लेकिन वह त्योहार फीका होगा, जिसमें खाने-पीने के अतिरिक्त पुरुष वर्ग में पीना-पिलाना साथ न हो।'

किन्नौरों का पुष्प-प्रेम अद्भुत है। यहाँ कोई त्योहार पुष्प विहीन नहीं होता। सर्दियों के त्योहारों के लिए जब फूल नहीं मिल पाते तो लकड़ी पर रंदा चलाकर सज्जा के लिए कागज़ जैसे पतले फूल निकाले जाने की अद्भुत प्रथा है। किन्नौर के देवी-देवताओं में छितकुल की देवी माथी ने अनूठा पुष्प-प्रेम दर्शाया है। उसने जब कैलास परिक्रमा के यात्रियों को ऊँचे कंढों के दुर्लभ पुष्पों को निर्दयता से तोड़कर लाते देखा तो देवी ने वे फूल तोड़ने पर तत्काल प्रतिबंध घोषित कर दिया। अब देवी को चढ़ाने के लिए फूल नहीं लाए जाते। लोक देवता कई बार वन और पर्यावरण की रक्षा के लिए भी आगे आते हैं और इस तरह देवता के माध्यम से सामूहिक जन-भावनाएँ ही व्यक्त होती हैं।

किन्नौर में बारह महीनों के पारम्परिक त्योहारों तथा किन्नौरी बोलियों पर ठाकुर सेन नेगी के लेख शोधपरक होने के साथ उनकी गहरी सांस्कृतिक समझ के परिचायक भी हैं। इसलिए किन्नौर की सांस्कृतिक धरोहर के आधारभूत परिचय की दृष्टि से ये दोनों लेख पठनीय हैं। नेगी जी ने लिखा है, 'खुले मैदान में जो सामूहिक स्वच्छंद नृत्य होता है, उसमें सारा गाँव नाचता है; क्या पुरुष, क्या स्त्री; क्या बूढ़ा क्या बच्चा; नाचनेवालों के साथ बजानेवाले भी नाचते हैं। गाँव का पूरा वाद्यवृंद यौवन पर बजाया जाता है और दो आदमियों के कंधों पर ग्राम-देवता को भी नचाया जाता है। वह वातावरण ही और होता है। ऐसे स्वाभाविक प्राकृतिक नृत्य अब कम होते जा रहे हैं।' वास्तव में किन्नौर की सच्ची सांस्कृतिक झाँकी यही है, जिसमें पूरा लोक पक्ष अपने लोक देवता के साथ आत्मीय लोक धुनों पर झूम उठता है।

बोलियों के अध्ययन में क्षेत्रीय तथा जातीय दोनों स्तरों की भिन्नता स्पष्ट हुई है। ठाकुर सेन नेगी ने किन्नौर की बोलियां के आठ प्रकार गिनाये हैं, जबकि पूह क्षेत्र की बोलियाँ इनसे अलग हैं। इस सोदाहरण विवरण से स्पष्ट होता है कि एक छोटे क्षेत्र में बोलियों की यह विविधता सामाजिक, जातीय और भौगोलिक जैसे कई कारणों से है।

किन्नौर के जनप्रिय बुद्धिजीवी ठाकुर सेन नेगी किन्नौर की सांस्कृतिक पहचान के प्रति भी चिंतित दिखाई देते हैं। वह किन्नौर-वासियों को नसीहत भी दे गए हैं कि—'यदि समझदार और समाज की चिंता करनेवाले लोग आज से ही कुछ एहतियात न बरतें तो एकाध और पुश्तों में ही इतनी अफरा-तफरी फैल सकती है कि सबकुछ चौपट हो जाएगा और किन्नौर की कोई विशेपता, कोई पृथक् पहचान न बच पाएगी।'

बोन धर्म और जङ-जुङ भाषा को लेकर छेरिंग दोरजे का शोध पूर्ण लेख विशेष महत्त्व का है। इसमें पश्चिम हिमालय क्षेत्र के प्राचीन जङ-जुङ देश और तिब्बत में छठी शताब्दी तक फैले बोन धर्म का ऐतिहासिक उल्लेख है। बोन धर्म के प्रवर्तक महात्मा शेन-रब मि-वो ने तग-जिग देश यानी ईरान से आकर पूरे जङ-जुङ देश में यहाँ की स्थानिक भाषा में बोन धर्म का इस कदर प्रचार-प्रसार किया कि वह जङ-जुङ देश और तिब्बत का राष्ट्रधर्म बन गया था। उस जङ-जुङ देश की राजधानी कहीं कैलास के आसपास बताई गई है और किन्नौर सहित भारत तथा नेपाल के अनेक क्षेत्र उस देश में शामिल थे।

तिब्बत तथा भारतीय पश्चिम हिमालयी अँचलों में हिन्दू तथा बौद्ध धर्म के प्रसार से पूर्व बोन धर्म का प्रभुत्व था। इसीलिए आज भी इन क्षेत्रों में बोन धर्म के कई तत्त्व सामाजिक जीवन के व्यवहार में मिल जाते हैं। इस पृष्ठभूमि में छेरिंग दोरजे का यह अध्ययन छठी शताब्दी तथा इससे पूर्व के धार्मिक-सामाजिक परिप्रेक्ष्य को लेकर है। उन्होंने इसमें बोन धर्म के साथ जङ-जुङ देश, यहाँ की निवासी जातियों और जङ-जुङ भाषा का भी शोध प्रस्तुत किया है, जो बहुआयामी इतिहास के विलुप्त होते साक्ष्यों की ओर ध्यान आकर्षित करनेवाला भी है।

अपनी बेटी के विवाह के अवसर पर किन्नौर में लड़की के माता-पिता अपने ग्राम-देवता से प्रार्थना करते हैं—

नरेणस देव जी भला करें, अपनी जाई का
अपनी जाई को बसने भी दें, रसने भी दें
मुख में गीत के साथ, कान में कर्णफूल के साथ
घर में हँसते लोगों, पशुशाला में रंभाते पशुओं के साथ

बेटी के लिए यह प्रार्थना मनुष्यों और पशुओं के साथ व्यतीत होते ऐसे

सुखद जीवन की है, जिसमें मुख में गीत और कान में फूल भी हमेशा बना रहे। संगीत और सौंदर्य के साथ बेटी का यह बसना और रसना किन्नौरी समाज में स्त्री के विशेष महत्त्व और उसकी अहम भूमिका को ही दर्शाता है।

विद्यासागर नेगी ने किन्नौर के लोकगीतों और गाथाओं के माध्यम से उस समाज के धार्मिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक जीवन में महिलाओं की कर्मठ भूमिका और उनके द्वारा अर्जित स्थान का रोचक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। इसमें कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण तथ्य भी सामने आते हैं, जो परम्परागत किन्नौरी जीवन में महिलाओं के अधिकारों की पुष्टि करते हुए, भारतीय समाज में व्याप्त स्त्री विरोधी धारणाओं के विपरीत, उनकी सामाजिक स्वतंत्रता के दृष्टांत भी प्रस्तुत करते हैं।

किन्नौर का समाज परम्परा से कला प्रिय रहा है। गीत, नृत्य से लेकर स्थापत्य, मूर्ति, चित्र, आदि कलाओं की यहाँ अच्छी विरासत है। यहाँ के मंदिरों और गोन्पाओं का स्थापत्य और काष्ठ कला विशेष उल्लेखनीय है। डॉ. दिलवर शर्मा ने किन्नौर की इन्हीं लोक कलाओं पर प्रकाश डाला है।

हंगरी निवासी कोरोशी चोमा शान्दोर ने अपने पूर्वजों के मूल स्थान और सांस्कृतिक विरासत की खोज में मिस्र, इराक, ईरान, काबुल होते हुए पश्चिमी हिमालय के भारतीय भू-भाग की भी लम्बी यात्रा की। इसी क्रम में वह हिमाचल के कई स्थानों में भी घूमे। उन्होंने तिब्बती भाषा सीखी और तिब्बती-अंग्रेज़ी शब्दकोश, तिब्बती व्याकरण तथा संस्कृत-तिब्बती-अंग्रेज़ी शब्दावली जैसी परियोजनाओं का महत्त्वपूर्ण काम किया। उनकी जोखिम-भरी और ज्ञान के क्षेत्र में प्रेरणादायी यात्रा का विस्तृत विवरण डॉ. हीरा पाल गंगनेगी ने प्रस्तुत किया है। ऊन की कताई-बुनाई किन्नौरी जीवन का अहम अंग है। डॉ. पंकज ललित ने 5000 वर्ष पुरानी इस विरासत पर शोध पूर्ण लेख प्रस्तुत किया है। विभिन्न ऊनी उत्पादों के विवरणों सहित यह अध्ययन किन्नौरी समाज के परिप्रेक्ष्य में बहुत रोचक भी बन पड़ा है।

इस पुस्तक के कुल बारह लेखों में से आठ 'विपाशा' तथा चार 'सोमसी' से लिए गए हैं। इनके लेखक जन्म और कर्म से किन्नौर और पश्चिमी हिमालय से सम्बंधित रहे हैं, इसलिए यह लेखन विश्वसनीय कहा जा सकता है। भोटी और अन्य जनजातीय बोलियों के शब्दोंवाली भाषा में वर्तनी को मानक स्तर तक लाने तथा स्थानिक सूचनाओं को अधिकाधिक प्रामाणिक बनाने के लिए विद्यासागर नेगी तथा छेरिंग दोरजे का सहयोग दूरभाष पर भी लिया जाता रहा। इसके सम्पादन तथा प्रूफ-शोधन में अकादमी की अनुसंधान अधिकारी सुश्री गिरिजा शर्मा का विशेष सहयोग रहा है। आशा है किन्नौर जैसे बहुचर्चित जनजातीय क्षेत्र के समाज और संस्कृति के प्रति जिज्ञासा रखनेवाले अध्येताओं और आम पाठकों के लिए यह पुस्तक उपयोगी साबित होगी।

अनुक्रम

1. किन्नौर का सांस्कृतिक परिदृश्य : विद्यासागर नेगी 13

2. हिन्दुस्तान-तिब्बत रोड : कृष्ण नाथ 35

3. किन्नौर की वादियों में सतलुज : विद्यासागर नेगी 49

4. कैलास पर्वत : किन्नौरी जीवन की आस्था : पी.एन.सेमवाल 80

5. किन्नौरी बोलियाँ : ठाकुर सेन नेगी 84

6. सनातन बोन धर्म और जङ-जुङ भाषा : छेरिंग दोरजे 94

7. किन्नौर का सन्तङ् : पी.एन. सेमवाल 113

8. किन्नौर के त्योहार : ठाकुर सेन नेगी 117

9. किन्नौरी समाज में महिला का स्थान : विद्यासागर नेगी 122

10. किन्नौर की लोक कलाएँ : डॉ. दिलवर शर्मा 147

11. हिमालयी बौद्ध-विद्या के पश्चिमी अग्रदूत कोरोशी चोमा शान्दोर : डॉ. हीरा पाल गंगनेगी 155

12. किन्नौर में ऊन बुनाई की परम्परा : डॉ. पंकज ललित 179

किन्नौर का सांस्कृतिक परिदृश्य

विद्यासागर नेगी

किन्नौर हिमाचल प्रदेश का एक सीमावर्ती जिला है। सन् 1960 ई. से पूर्व यह महासू जिला का भाग तथा स्वतंत्रता पूर्व रामपुर-बुशहर रियासत की एक तहसील रहा। किन्नौर के पूर्व में तिब्बत पड़ता है, जो वर्तमान समय में चीन के प्रभुत्व में है। इसके दक्षिण में उत्तरकाशी और रोहड़ू, दक्षिण-पश्चिम में रामपुर, पश्चिमोत्तर में कुल्लू तथा लाहुल-स्पीति के क्षेत्र पड़ते हैं। पूरे किन्नौर ज़िले में 77 गाँव हैं और इसका क्षेत्रफल 6,401 वर्ग कि.मी. है। सन् 1991 की जनगणना के अनुसार किन्नौर की कुल जनसंख्या 71,720 थी। प्रशासकीय सुविधा के लिए इसे निचार, साँगला, कल्पा, मूरंग, पूह, लियो, हंगरङ--इन छह तहसीलों में बाँटा गया है। किन्नौर जिला का मुख्यालय रिकाँग-पिओ है।

हिमालय के गर्भ में स्थित इस क्षेत्र के प्रायः सभी गाँव समुद्र तल से 1500 मी. से लेकर 3500 मी. की ऊँचाई के बीच बसे हैं। इसके पर्वतों की चोटियाँ 2,180 मीटर से लेकर 6,770 मीटर तक ऊँची हैं। ये चोटियाँ वर्ष में अधिकांश समय बर्फ़ से ढकी रहती हैं। किन्नौर के ज़्यादातर गाँव स्पीति, बासपा तथा सतलुज नदियों के किनारे बसे हैं।

किन्नौर में वर्षा ऋतु में भी बारिश बहुत कम होती है। इसका कारण यह है कि बादल यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते शुष्क हो जाते हैं। सर्दियों में यहाँ कड़ाके की ठंड पड़ती है, जिसके कारण किन्नौर के ऊँचाईवाले क्षेत्रों में वर्ष में मात्र एक ही फसल होती है। सर्दियों में बर्फ़ भी खूब पड़ती है। यही बर्फ़ ग्रीष्मकाल में पिघल कर नदी-नालों में जल के रूप में बहती है। इसी कारण गर्मियों में यहाँ के नदी-नालों में अधिक पानी बहता है। इन्हीं नालों के पानी को किन्नौरवासी कूहल के माध्यम से अपने खेतों तथा बाग-बागीचों में

पहुँचाकर सिंचाई करते हैं। किन्नौर के जो क्षेत्र कम ऊँचाई पर स्थित हैं, वहाँ वर्ष भर में दो फसलें उगाई जाती हैं और इन्हीं क्षेत्रों में किन्नौरवासियों के बाग-बागीचे होते हैं। यहाँ के फलों में सेब, खुमानी, अंगूर, नाशपाती, चूली, बादाम, अखरोट आदि प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त किन्नौर के निचले क्षेत्रों के जंगलों में चिलगोजे के पेड़ भी पाये जाते हैं। साथ ही इन जंगलों में काला जीरा, गुच्छी, चोरा आदि भी प्राप्त होते हैं। खाद्यान्नों में गेहूँ, जौ, फाफरा, ओगला, कोदा, मक्की, चौलाई आदि पैदा होते हैं। दालों में मसूर, राजमाह तो सब्जियों में आलू, शलजम, पातगोभी, फूलगोभी, मूली, टमाटर आदि उगाये जाते हैं।

शिमला से किन्नौर के लिए सीधी बस-सेवा उपलब्ध है। पहले-पहल किन्नौर को दुनिया से जोड़ने के लिए हिन्दुस्तान-तिब्बत सड़क बनी, जो यहाँ के निवासियों की भाग्य-रेखा साबित हुई। किन्तु अब हिन्दुस्तान-तिब्बत सड़क का स्थान राष्ट्रीय उच्च मार्ग नं. 22 ने ले लिया है। यह मार्ग सतलुज तथा स्पीति नदी के किनारे-किनारे से होकर कौरिक तक जाता है। आज़ादी से पूर्व किन्नौर तथा उसके भीतरी भागों को एक-दूसरें से जोड़ने के लिए कोई सड़क की व्यवस्था नहीं थी। लोग अपनी पीठ पर तथा भार-वाहक पशुओं पर सामान लाद कर मीलों पैदल जाते थे, किन्तु आज ये सारी परेशानियाँ नहीं हैं।

किन्नौर का एक मुख्य आकर्षण है-- यहाँ का किन्नर-कैलास, जो यहाँ के निवासियों को सभी प्रकार की बाधाओं में अडिग रहने की प्रेरणा देता है। यह कल्पा के ठीक सामने सतलुज नदी के पार स्थित है। इसकी ऊँचाई समुद्र तल से 6,473 मीटर है। किन्नर-कैलास बौद्ध-हिन्दू दोनों ही सम्प्रदायों के लिए अत्यन्त पवित्र है। दोनों ही सम्प्रदाय इसकी परिक्रमा को पुण्यार्जन का कृत्य मानते हैं। बौद्ध इसे अपने उपास्य देव चक्रसंवर तथा वज्रवराही का अधिष्ठान मानते हैं तो हिन्दू इसे अपने उपास्य देव शिव तथा पार्वती का निवास मानते हैं। स्थानीय लोग किन्नर-कैलास को रलडङ्/रल्दङ् और इसकी परिक्रमा को रलडङ् /रल्दङ् 'कोरा' कहते हैं। परिक्रमा के मार्ग में बर्फ़ आदि की प्राकृतिक बाधाओं के कारण पूरे वर्ष इसकी परिक्रमा करना संभव नहीं है।

किन्नर-कैलास पर एक पत्थर सीधा खड़ा है, जो अब शिवलिंग की मान्यता प्राप्त कर चुका है। लोग अक्सर कृष्ण जन्माष्टमी के दौरान किन्नर-कैलास की परिक्रमा करते हैं और साथ ही कुछ लोग उक्त शिवलिंग की पूजा-अर्चना करने भी जाते हैं। किन्नर-कैलास की प्रमुख चोटी सूर्य की

किरणों के कारण प्रातः से सायं तक विविध वर्णों में दिखाई देती है। किन्नौर की आदिम मान्यता के अनुसार किन्नर-कैलास जहाँ पर्वतों में वास करनेवाले देवी-देवताओं का निवास स्थान है, वहीं यह सभी के लिए नाम मात्र से भयभीत करानेवाली यमपुरी जैसा भी है। इस मान्यता के अनुसार मरने के बाद मृत आदमी की आत्मा किन्नर-कैलास पर जाती है।

किन्नर-कैलास पर जहाँ 'शिवजी' विराजमान हैं, वहाँ आस-पास के क्षेत्रों के गाँवों में अन्य देवी-देवता वास न करें, यह कदापि सम्भव नहीं हो सकता है। इसलिए किन्नौर का शायद ही कोई ऐसा गाँव होगा जहाँ एक या एक से अधिक देव-देवियाँ न हों। इन देवी-देवताओं को किन्नौरवासी 'शू' 'सत्' तथा 'ल्ह' कहते हैं। 'सत्' शड्-शुङ् बोली में, 'ल्ह' भोट भाषा में देवता को कहते हैं; किन्तु 'शू' 'शिव' शब्द का अपभ्रंश है या 'असुर' शब्द का, यह शोध का विषय है। इन किन्नौरी देव-देवियों के, किन्नौर के विभिन्न गाँवों में आगमन तथा प्रकटीकरण के सम्बंध में यहाँ कई शू-गीथङ् (देव-गीत) प्रचलित हैं। इसके अतिरिक्त इन ग्राम-देव-देवियों के अपने-अपने ग्रोक्च यानि प्रवक्ता हैं। जब ये देव-देवियाँ अपने-अपने ग्रोक्च के माध्यम से अपनी बात लोगों को बताते हैं तो सबसे पहले अपने प्रकट होने तथा किन्नौर के विभिन्न गाँवों में स्थापित होने का इतिहास बताते हैं। इस इतिहास को बखान या चिरोनिङ् कहते हैं।

किन्नौर के ग्राम-देव-देवियों के अपने-अपने अधिकार-क्षेत्र हैं। एक ग्राम-देवता दूसरे ग्राम-देवता के अधिकार-क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करता है। इन देव-देवियों के परस्पर पारिवारिक सम्बंध भी होते हैं। ये देव-देवियाँ यहाँ के लोगों के सुख-दुःख में बराबर का हिस्सा लेते हैं। इन देव-देवियों के वाहन को 'रोथङ्' कहते हैं। यह 'रोथङ्' शब्द संस्कृत शब्द 'रथम्' का अपभ्रंश है। ये देव-देवियाँ यहाँ के निवासियों के लिए सबकुछ हैं। कोई बीमार पड़ जाए या किसी के घर चोरी हो जाए या झगड़ा हो, अतिवृष्टि हो या अनावृष्टि, सबसे पहले किन्नौरवासी अपने ग्राम-देवी-देवता की शरण में जाते हैं। इसलिए यहाँ के निवासियों के लिए ये देवी-देवता कभी न्यायाधीश के रूप में, कभी वैद्य के रूप में, कभी प्रशासक के रूप में तो कभी पारिवारिक मुखिया के रूप में होते हैं।

किन्नौर की देवियों में सबसे शक्तिशाली देवी छितकुल गाँव की देवी 'माथी' मानी जाती है। यह छितकुल के बाराज़ङ् खगो यानि बाराजङ् नामक ऊँचाईवाले क्षेत्रों की रक्षिका मानी जाती है। इसलिए इस देवी को रानी-

रणसंगा भी कहते हैं। कहा जाता है कि यह देवी वृन्दावन से यहाँ आयी थी। इस देवी का एक देवगीत है, जिसे स्थानीय लोग विशेष अवसरों में बड़ी श्रद्धा के साथ गाते हैं। छितकुल की देवी न केवल इस क्षेत्र के लोगों की रक्षा करती है, बल्कि इस क्षेत्र के पर्यावरण की भी रक्षा करती है। कुछ वर्ष पहले तक किन्नर-कैलास परिक्रमा के यात्री, देवी को अर्पित करने के लिए, इस परिक्रमा पथ में पड़नेवाले क्षेत्र लालनती जोत से, दुर्लभ पर्वतीय फूलों को चुन-चुन कर लाते थे। जब देवी ने किन्नर-कैलास परिक्रमा के यात्रियों को छितकुल के कंढे में पड़नेवाले क्षेत्रों में दुर्लभ पर्वतीय फूलों को बड़ी बेदर्दी के साथ चुन कर लाते देखा तो देवी ने इन दुर्लभ फूलों को तोड़कर न लाने का आदेश दिया। तब से किन्नर-कैलास परिक्रमा के यात्री छितकुल की देवी को भेंट करने के लिए फूल नहीं लाते हैं। छितकुल के क्षेत्रों में जो कुछ भी करना हो उसके लिए देवी से अनुमति लेना ज़रूरी है।

छितकुल की देवी गृहस्थ है। उन्होंने कामरू के बद्रीनाथ देवता से विवाह किया है। बड़सेरी के बद्रीनाथ, कामरू के बद्रीनाथ के बड़े भाई माने जाते हैं। इसलिए छितकुल की देवी बड़सेरी के बद्रीनाथ को अपना ज्येष्ट्स यानि ज्येष्ठ मानती है। छितकुल की देवी की एक पुत्री भी है। उसका विवाह छितकुल के कंढे में निवास करनेवाले 'कारूदेव' के साथ हुआ है। इसलिए देवी कारूदेव को अपना दामाद बताती है।

किन्नौर की दूसरी शक्तिशाली देवी, कोठी गाँव की देवी चंडिका मानी जाती है। यह पौराणिक जटाधारी शिव की शिवा या चंडी नहीं है, जिसने कैलासवासी जटाधारी शिव को पाने के लिए मानसरोवर झील में घोर तपस्या की थी। इसे लोग हिरमा यानि हिडिम्बा के गर्भ से उत्पन्न बाणासुर की ज्येष्ठ पुत्री मानते हैं। किन्नौर के निकट शिमला जिला में पड़नेवाला क्षेत्र सराहन है, जिसे बाणासुर की राजधानी शोणितपुर माना जाता है। कहा जाता है कि बाणासुर का हिडिम्बा के साथ प्रणय सम्बंध हो गया था। बाणासुर हिडिम्बा को अपनी राजधानी शोणितपुर तो नहीं ले जा सका, अतः उसने उसे ग्रोसनम (सुंगरा) के वन में स्थित एक गुफा में रखा। इसी गुफा में रहकर हिडिम्बा की कोख से बाणासुर की कई सन्तानें उत्पन्न हुईं। हिडिम्बा ने उक्त गुफा में रहकर गर्भ-धारण किया था, इसलिए इस गुफा को स्थानीय लोग 'गोरबोरङ् अक' यानि गर्भ (धारी) गुफा कहते हैं।

निचले किन्नौर के देवी-देवताओं की कहानियाँ बाणासुर से जुड़ी हैं। क्योंकि निचले किन्नौर के अधिकांश देव-देवियाँ बाणासुर के पुत्र-पुत्रियाँ माने

जाते हैं। ग्रोसनम (सुंगरा) गाँव का देवता ग्रोस मोनशिरस, बङ्पो भाबा क्षेत्र का देवता वङ्मोनशिरस, ठोलङ् (चगाँव) गाँव का देवता ठोलमोनशिरस, हिडिम्बा के गर्भ से उत्पन्न बाणासुर के पुत्र हैं। ये मोनशिरस यानी महेश्वर हैं। इन्हें शक्तिशाली देवता मानते हैं। निचार गाँव की उषा देवी भी बाणासुर की ही पुत्री है। कपौर गाँव में हिडिम्बा देवी का मंदिर है। तरांडा गाँव में उषा देवी की सहेली चित्रलेखा का मंदिर है। उपर्युक्त देव-देवियों के अतिरिक्त रापङ् गाँव का नाग देवता, पंगी गाँव का शेशेरिङ्देव, जंगी गाँव का ग्यङ्माग्युङ् देव, कानम गाँव का डबला देव, ख्वङ् गाँव का मरकालिङ् देव आदि भी किन्नौर के शक्तिशाली देवता हैं।

किन्नौर में नरेणस (नारायण) और विष्णु के भी देवालय हैं। विष्णु देव का किन्नौर के अन्य देव-देवियों की भाँति वाहन नहीं होता है। विष्णु के देवालय में विष्णु देव की मुख्य प्रतिमा स्थापित होती है। इनके अतिरिक्त किन्नौर में लंगुरा 'लंकट्टा-महाराज', नागिन, काली, वनदेवता वनशिरा, बीर, पर्वतों में वास करनेवाली देवियाँ, जिन्हें स्थानीय लोग 'साउणी' कहते हैं, इनकी पूजा भी होती है। काली के प्रति किन्नौर के भेड़-पालकों की विशेष आस्था है। किन्नौर के भेड़-पालक अपनी भेड़-बकरियों के झुँड में एक काला बकरा काली के नाम पर रखते हैं। विशेष अवसरों पर भेड़-पालक इस बकरे को काली का प्रतिनिधि मानकर इसकी पूजा करते हैं। काली के अतिरिक्त भेड़-पालक अपने ग्राम-देवों के नाम पर भी एक-एक बकरा रखते हैं। लंगुरा देव के नाम पर भेड़-पालक बकरा नहीं रखते हैं। उनके नाम पर भेड़ा रखते हैं। जिन भेड़-पालकों के घर में 'छोद खङ्' यानि व्यक्तिगत बौद्ध पूजागृह होते हैं, वे लोग अपनी भेड़-बकरियों के झुँड में सद्धर्म के रक्षक देव छोस क्योङ् यानि धर्मपालक के नाम पर भी एक बकरा रखते हैं।

किन्नौर में बिना वाहन के एक और देव 'देऊदुम' की भी सर्वत्र पूजा होती है। पूह से ऊपर किन्नौर के अंतिम गाँव सुमरा तक के ग्राम-देवों के वाहन, पूह से नीचे वर्तमान किन्नौर की अंतिम सीमा गरयोटी तक के ग्राम-देवों की भांति रोथङ् के रूप में नहीं होते हैं। इन क्षेत्रों के ग्राम-देवों के वाहन को 'फोबरङ्' कहते हैं। 'फोबरङ्' को निचले किन्नौर के लोग 'खंडो' भी कहते हैं। इसमें एक काष्ठदंड को छत्र तथा रंग-विरंगे कपड़ों से सजाया होता है। इसके छत्र के नीचे मुख-प्रतिमाएँ बाँधी होती हैं। इस फोबरङ् को इसके निचले हिस्से से उठाकर एक व्यक्ति इधर-उधर ले जाता है। इस तरह के वाहनवाले देव-देवियाँ 'रोथङ्' वाले देव-देवियों की भाँति अपने शीश संकेत

से बातें नहीं करते हैं। ये देव-देवियाँ अपने माली (प्रवक्ता) के शरीर में प्रवेश करके ही बातें करते हैं। रोथङ् रूपी वाहनवाले देव-देवियों से प्रश्नकर्ता को स्थानीय लोग 'माथस' कहते हैं। ये देव-देवियाँ उस स्थिति में अपने-अपने माली (प्रवक्ता) के शरीर में प्रवेश करके अपनी बातें जनता को कहते हैं, जब प्रश्नकर्ता उनके शीश के हिलाने-डुलाने के संकेत को समझ नहीं पाता है।

किन्नौर के मोने कामरू गाँव में बुशहर के दो स्वर्गीय राजाओं छत्र सिंह और कल्याण सिंह को भी स्थानीय देवों के रूप में पूजा जाता है। इन दोनों देवों के कामरू में पृथक् देवालय हैं। किन्नौर के ग्राम-देवों के परस्पर पारिवारिक सम्बंध होने के फलस्वरूप ये देव-देवियाँ कभी-कभी अपने रिश्तेदारों से मिलने भी जाते हैं। उस समय गाँव के प्रत्येक परिवार से एक-एक सदस्य को देवी-देवता के साथ जाना होता है। देवता का पूरा बजंतरी दल भी साथ चलता है। देवता जिससे मिलने जाते हैं, उसके लिए भेंट स्वरूप 'गागोरो' यानि देवता को पहनाया जानेवाला विशेष कपड़ा आदि ले जाते हैं। उस गाँव का देवता भी अपने गाँव के सभी लोगों और गाजे-वाजे के साथ एक निश्चित स्थान पर अपने मेहमान देवता या देवी का स्वागत करने आता है। मिलन के अवसर पर मनुष्यों की भाँति 'रोथङ्' रूपी वाहनवाले देवता एक-दूसरे से गले मिलकर, एक-दूसरे के प्रति अपने असीम प्यार का इज़हार करते हैं। गाँव में पहुँचने पर खूब मेला जुटता है। गाँव के लोग तो नाचते ही हैं, साथ में देवता भी नाचते हैं। देव-नृत्य को स्थानीय बोली में 'ठोकोरी कायङ्' या 'पनस कायङ्' कहते हैं। ठोकोरी कायङ् नृत्य, रोथङ् रूपी वाहनवाले देवता ही करते हैं। पनस कायङ् नृत्य देवता अपने माली में प्रवेश करके करते हैं। देवी-देवता द्वारा अपने-अपने रिश्तेदारों के यहाँ मेहमानी करने जाने को स्थानीय बोली में 'बायोलिङ्' कहते हैं।

इसके अतिरिक्त कुछ वर्ष पहले तक कोई-कोई देवता पूरे परगने में घूमने निकलते थे। जिन-जिन गाँवों से होकर देवता गुज़रते थे, उन गाँवों के देवता उनके स्वागत के लिए निकलते थे। राजाओं के काल में बुशहर राजा किसी अत्यधिक शक्तिशाली देवता को पूरे परगने में घूम आने के लिए भी कहते थे। देवता के पूरे परगने में घूमने जाने को स्थानीय बोली में 'बोनिङ्' कहते हैं। किन्नौर के ग्राम-देव-देवियों का स्थानीय लोगों पर बहुत प्रभाव है। कोई भी व्यक्ति अपने ग्राम-देव-देवी के हुक्म की अवेहलना नहीं करता है। देवता का आदेश होने पर सारे लोग अपना काम-काज छोड़कर देवता के देवालय में पहुँचते हैं।

देवी-देवता के देवालय यानी 'शू-कोटी' में महिलाएँ प्रवेश नहीं करती हैं। ग्राम-देव का देवालय गाँव के मध्य में स्थित होता है। देवालय के सामने प्रांगण होता है। इसका उपयोग सभी प्रकार के पारम्परिक उत्सवों के आयोजन के लिए किया जाता है। प्रांगण के मध्य में एक छोटा-सा भवन चारों तरफ से खुला और चार स्तम्भों पर बना होता है। जब देवता किसी विशेष अवसर पर अपने देवालय से बाहर निकलते हैं तो कुछ समय बैठने के लिए इसका उपयोग किया जाता है। इसे स्थानीय बोली में 'चोरङ्च' कहते हैं। प्रांगण को स्थानीय बोली में 'सन्तङ्' कहते हैं। 'सन्तङ्' शब्द सम्भवतः बौद्ध के संस्थागार शब्द का अपभ्रंश रूप है। संस्थागार का उपयोग प्राचीन काल में उपदेश सुनने के लिए किया जाता था। इसके अतिरिक्त भिक्षु संघ से सम्बद्ध विवादों का निपटारा भी संस्थागार में एकत्र होकर ही करते थे।

किन्नौर में स्थानीय ग्राम-देवी-देवताओं की उपस्थिति में ही अनेक मेलों तथा उत्सवों का आयोजन होता है। कई गाँवों में लोग वैवाहिक सम्बंध भी अपनी देवी या देवता की राय से ही करते हैं। किन्नौर के अधिकांश देव-देवियों के विशेष देव-गीत होते हैं, जिन्हें स्थानीय बोली में 'शू-गीथङ्' या 'कारेस गीथङ्' कहते हैं। इन गीतों में पृथ्वी की स्थापना तथा देवता के प्रकट होने का वर्णन होता है। इन कारेस गीथङ् को विशेष अवसरों पर, कुछ निश्चित लोग नहा-धोकर एक बन्द कमरे में गाते हैं।

किन्नौर के आम गीतों के आरम्भ की कुछ पंक्तियों में ग्राम विशेष की भौगोलिक स्थिति के वर्णन के साथ उस ग्राम–देवी या देवता की स्तुति यानि महत्ता का वर्णन होता है। यहाँ देवी-देवता भी अपने-अपने अधिकार-क्षेत्र के लोगों के दुःख निवारण के लिए तत्पर रहते हैं। यदि किसी पुरुष ने किसी महिला को धोखा दिया और उस महिला ने अपने ग्राम-देवी या देवता के देवालय में जाकर उस पुरुष के विनाश की कामना कर दी तो समझ लो उस पुरुष की शामत आ गई। उसे ग्राम-देवी या देवता का 'दोषङ्' यानि दोष लग जायेगा। वह तब तक ठीक नहीं होगा, जब तक बहुत सारी पूजा सामग्री पर व्यय करके देव-दोष निवारण हेतु देवता की पूजा नहीं करता है। कभी-कभी ये देवी-देवता गाँव पर आनेवाली किसी संभावित विपत्ति के निवारण के लिए पूरे गाँववालों से सामूहिक पूजा भी कराते हैं।

इसके अतिरिक्त माघ महीने में 15 दिनों के लिए किन्नौर के सम्पूर्ण देव-देवियाँ 'पाशङ्' यानि जुआ खेलने के लिए किन्नर-कैलास पर जाते हैं। वहाँ पर सारे देव-देवियाँ किन्नर-कैलासवासी शिवजी की अध्यक्षता में जुआ

खेलते हैं। कहा जाता है कि जुआ खेल की हार-जीत के आधार पर शिवजी उन्हें अपने-अपने क्षेत्रों के लिए वर्ष भर की फसल आदि प्रदान करते हैं। पन्द्रह दिनों तक किन्नर-कैलास पर जुआ खेलने के उपरान्त सारे देवी-देवता शिवजी द्वारा प्रदत्त भाग के साथ अपने-अपने देवालयों में लौटते हैं। उस रोज़ गाँव के सारे लोग सज-धज कर अपने ग्राम-देव के स्वागत के लिए देवालयों में एकत्र होते हैं। अपने ग्राम-देव का माली (प्रवक्ता) के शरीर में आह्वान किया जाता है। माली के शरीर में प्रविष्ट होकर ग्राम-देवता किन्नर-कैलास पर जुआ खेल में अपने प्रदर्शन के आधार पर शिवजी द्वारा प्रदत्त फसल आदि के बारे में अपने लोगों को बताते हैं। कहते हैं कि किन्नर-कैलास पर शिवजी की अध्यक्षता में खेले जानेवाले जुआ खेल में किन्नौर के सारे ग्राम-देवताओं की कोशिश रहती है कि वे अच्छा प्रदर्शन करें और अपने क्षेत्र के लोगों के लिए फसल आदि का अधिक से अधिक भाग लेकर आएँ।

कहा जाता है कि किन्नौर की ऊँची-ऊँची पर्वत-चोटियों पर वास करनेवाली साउणियाँ किन्नौर की महिलाओं की खूबसूरती से ईर्ष्या करती हैं। यदि खूबसूरत महिलाएँ काला दोहड़ू पहन कर उनके अधिकार क्षेत्रों में पहुँच जाएँ तो उनके जीवन अंश का वे साउणियाँ लोपड् यानि हरण कर लेती हैं। इसलिए अक्सर किन्नौर की खूबसूरत महिलाओं को काली दोरी (दोह्ड़ू) पहन कर पर्वत की ऊँची-ऊँची चोटियों पर जाने की मनाही होती है। साउणियों के द्वारा किन्नौर की खूबसूरत महिलाओं का जीवन हरण करने की दुःखद घटनाओं का लोक कवि ने भी अपने गीतों में वर्णन किया है। ग्राम-देवी-देवता के हुक्म की कोई अवहेलना करता है तो ये देवी-देवता उस परिवार विशेष से नाराज़ हो जाते हैं और उस परिवार के विनाश की धमकी भी देते हैं। वे कहते हैं– *'अङ् मा-गोनाचिमा था- मोनाच, ठोलगङ् गश जङ्चोक'*– यानि 'मुझे भले ही न मानें, इसका परिणाम तो मैं दिखलाऊँगा।' इसलिए कोई भी अपने ग्राम-देवी या देवता का कोप-भाजन बनने की हिम्मत नहीं करता है।

किन्नौर के लोग अपने ग्राम-देवी-देवताओं के अतिरिक्त एक और देवता की पूजा करते हैं। ये सामूहिक देवता नहीं होते हैं। ये परिवार के व्यक्तिगत देवता होते हैं। इन्हें 'क्युमशू' (गृह-देवता) कहते हैं। जिस प्रकार किन्नौर के ग्राम-देवता के स्थान होते हैं, उस तरह इनके स्थान नहीं होते हैं। न इनकी कोई प्रतिमा होती है और न ही इनके कोई माली होते हैं। इस तरह के देवता परिवार की सम्पत्ति तथा घर के चार कोनों की रक्षा करते हैं। विशेष त्योहारों पर परिवार के सारे नाते-रिश्तेदार घर में एकत्र होकर खा-पीकर गीत गाते

हुए, नृत्य करने के लिए सन्तङ् में जाते हैं तो उस समय इन गृह-देवों से घर की रक्षा करने के लिए प्रार्थना की जाती है।

किन्नौर की संस्कृति का एक भाग धर्म है। लोकगत परम्पराओं से ऐसा प्रतीत होता है कि किन्नौर में सर्व प्रथम बोन धर्म ने प्रवेश पाया था। बोन धर्म का प्रमुख केन्द्र शङ्-शुङ् (जङ-जुङ) था। शङ्-शुङ् मानसरोवर के आस-पास के क्षेत्रों का सामूहिक नाम है। इस धर्म के प्रवर्तक शास्ता शेनरब थे। बौद्ध धर्म की भाँति इस धर्म की अपनी परम्पराएँ तथा धार्मिक कर्मकांड हैं। सातवीं शताब्दी में तिब्बत में राजा स्रोङ-चेन्-गम्पो के राज्य काल में बौद्ध धर्म के पदार्पण से पहले सम्पूर्ण तिब्बत तथा भारतीय हिमालय में इस धर्म का व्यापक प्रभाव था। आज भी किन्नौर तथा इससे लगे लाहुल-स्पीति के क्षेत्रों में कई ऐसी चट्टानें मिलती हैं, जिन पर बोन धर्म से सम्बंधित चिह्न यानि वामावर्त्त स्वास्तिक आदि उकेरे होते हैं। इसके अतिरिक्त किन्नौर की बोलियों में शङ्-शुङ् बोली के शब्द तथा किन्नौर में प्रचलित कुछ प्राचीन परम्पराएँ भी किन्नौर में बोन धर्म के प्रभाव की पुष्टि करते हैं। किन्नौर की पर्वत-चोटियों पर स्थानीय लोगों द्वारा स्थापित किये जानेवाले लबचे़ (चबूतरे) तथा कुछ तीज-त्योहार भी बोन धर्म के प्रभाव को ही दर्शाते हैं।

बोन धर्म के अतिरिक्त किन्नौर में ब्राह्मण धर्म का भी प्रभाव रहा है। किन्नर-कैलास पर किन्नौर के ग्राम-देवी-देवताओं तथा लोगों द्वारा शिवजी की उपस्थिति मानना, कृष्ण जन्माष्टमी को किन्नर-कैलास की परिक्रमा करना, ठंडे (ठंगी), मूरंग, चगाँव, भावा, सुंगरा आदि गाँवों में स्थापित शिव-लिंगों की पूजा, कोठी गाँव के भैरव मन्दिर में कुछ प्राचीन हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्तियों में काली, विष्णु तथा नारायण की पूजा, हिन्दू धर्म से सम्बंधित कुछ तीज-त्योहारों का मनाया जाना, इसके साक्ष्य हैं। किन्नौर के कुछ क्षेत्रों के लोगों का अपने परिवार के सदस्यों की मृत्यु होने पर उनके अस्थि विसर्जन तथा हिन्दू परम्परा से पिंडदान करने के लिए हरिद्वार जाना आदि परम्पराएँ किन्नौर में हिन्दू धर्म के आंशिक प्रभाव को दर्शाती हैं। कहा जा सकता है कि जिस प्रकार किन्नौर के ऊपरी क्षेत्रों में बौद्ध धर्म की जड़ें प्रारम्भ से ही दृढ़ता के साथ जम पायी हैं, उतनी दृढ़ता के साथ इसकी जड़ें किन्नौर के हिन्दू धर्म से प्रभावित निचले क्षेत्रों में नहीं जम पायीं। इसका एक मात्र कारण किन्नौर के निचले क्षेत्रों में बौद्ध धर्म का प्रारम्भ में व्यापक प्रचार न हो पाना है।

किन्नौर में बौद्ध धर्म ने सर्वप्रथम कब प्रवेश किया, इसे निर्धारित करना

कठिन है। क्योंकि इस बात को सिद्ध करने के लिए इस क्षेत्र में कोई पुरातात्त्विक प्रमाण उपलब्ध नहीं होते हैं। किन्तु यह निश्चित तौर पर कहा जा सकता है कि किन्नौर में सर्वप्रथम बौद्ध धर्म का प्रवेश तिब्बत से नहीं, बल्कि भारत के मैदानी भागों से हुआ और वह भी अशोक के काल में। भारत के इतिहास में अशोक पहला सम्राट था, जिसने अपने राज्य का विस्तार तलवार की धार की बजाय धर्म से करने की सोची और वह अपने उद्देश्य में सफल भी हुआ। अशोक ही एक ऐसा पहला सम्राट था, जिसने भगवान बुद्ध की वाणी को भारत की सीमा से बाहर यानी विदेशों में पहुँचाया था। उसने सद्धर्म के प्रचार के लिए अपने पुत्र महेन्द्र तथा पुत्री संघमित्रा को श्रीलंका भेजा था। उसने तत्कालीन भारत के प्रत्यन्त प्रदेशों तथा हिमवन्त यानी हिमालय में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए भिक्षुओं को भेजा था।

देहरादून के कालसी नामक स्थान में मिला अशोक का शिलालेख इस तथ्य की ओर इंगित करता है कि उस समय वहाँ एक प्रमुख नगर था और मध्यदेश के साथ हिमालय के व्यापार का यही एकमात्र केन्द्र था। उस समय भी शीत ऋतु में किन्नौर के भेड़-बकरीवाले अपने बकरों तथा खड्डुओं पर ज़रूरत की चीज़ें लाद कर जाते थे और ग्रीष्म की शुरुआत के साथ पुनः अपने क्षेत्रों में चले आते थे। उस समय हिमालय के लोग अपने भार-वाहक बकरों तथा खड्डुओं पर अपने क्षेत्रों से ऊन, पश्मीना आदि लाकर उपर्युक्त व्यापारिक केन्द्र में बेचते थे और यहाँ से आवश्यक वस्तुओं को खरीद कर अपने क्षेत्रों में ले जाते थे। पालि साहित्य में वर्णित 'अजपथ' सम्भवतः यहीं से प्रारम्भ होता था। भेड़-बकरियों के इन रास्तों से उस समय सम्राट अशोक द्वारा बौद्ध धर्म के प्रचार के निमित्त भेजे गए भिक्षु किन्नौर आदि हिमालय क्षेत्रों में अवश्य पहुँचे होंगे।

सातवीं शताब्दी में जब तिब्बत में बौद्ध धर्म का पहले-पहल प्रवेश हो रहा था, उस समय चीनी यात्री ह्वेन्त्साँग भारत के बौद्ध स्थलों की यात्रा पर था। अपनी इस यात्रा में वह कुल्लू भी पहुँचा था। उस समय उसने कुल्लू में एक हज़ार महायानी भिक्षुओं को बीस संघारामों में अध्ययन-अध्यापन तथा साधना में रत पाया था। ह्वेन्त्साँग का तो यहाँ तक कहना है कि भगवान बुद्ध ने प्राणिमात्र के हितार्थ कुल्लू की भूमि को भी अपने चरण-कमलों से पवित्र किया था। ह्वेन्त्साँग के यात्रा काल में कुल्लू में निवास करनेवाले भिक्षु भगवान बुद्ध की अमृतवाणी के माध्यम से जन-जन के दुःख का हरण करने के लिए हिमालय की ऊँची-ऊँची पर्वत-चोटियों को लाँघते हुए लाहुल-स्पीति

तथा किन्नौर में पहुँचे होंगे, किन्तु किन्नौर आदि क्षेत्रों के लिए नितान्त अपरिचित पालि तथा संस्कृत भाषा के माध्यम से पहुँचनेवाले बौद्ध धर्म का इस क्षेत्र ने कैसा स्वागत किया होगा, कहा नहीं जा सकता है। इस सम्बंध में परिचय पाने के लिए इन क्षेत्रों में कोई पुरातात्त्विक प्रमाण उपलब्ध नहीं होते हैं।

इस समय किन्नौर में जो बौद्ध धर्म प्रचलित है, वह तिब्बत से लौटकर भोटी भाषा के माध्यम से आनेवाला बौद्ध धर्म है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सातवीं शताब्दी से पहले सम्पूर्ण तिब्बत तथा भारतीय हिमालय क्षेत्रों में शास्ता शेनरब के द्वारा परिवर्तित बोन धर्म था। सातवीं शताब्दी में तिब्बत में स्रोङ-चेन्-गम्पो (जन्म 617 ई.) से पूर्व सम्पूर्ण भोट देश छोटी-छोटी सरदारियों में बंटा था। स्रोङ-चेन्-गम्पो का जन्म मध्य तिब्बत के कोङ्पो में हुआ था। परम्परा तो यह भी बताती है कि स्रोङ-चेन्-गम्पो तिब्बत का पहला राजा था, जिसने सम्पूर्ण तिब्बत पर शासन किया। उसने अपने राज्य का इतना विस्तार किया कि पश्चिम में गिल्गित, उत्तर में चीनी तुर्कीस्तान तक को ही नहीं जीत लिया, बल्कि नेपाल के राजा तथा चीन के सम्राट को भी कुछ प्रदेशों के साथ अपनी कन्याएँ देने पर बाध्य किया। नेपाल के अधिपति अंशु वर्मन की कन्या भृकुटी और चीन की राज-कन्या बेनचेङ् के साथ तिब्बत के सम्राट स्रोङ-चेन्-गम्पो का विवाह साधारण सम्बंध नहीं था, बल्कि यह तिब्बत में एक नये युग का शुभारम्भ था। उक्त दोनों राष्ट्रों की राज-कन्याओं से विवाह सम्बंध स्थापित करने के साथ ही राजा स्रोङ-चेन्-गम्पो ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया था।

राजा स्रोङ-चेन्-गम्पो से पहले तिब्बत में कोई लिपि नहीं थी। छोटी-छोटी सरदारियों में बंटे तिब्बत में शासन का संचालन कथा-कहानियों तथा लोकगत परम्पराओं के आधार पर होता था। राजा स्रोङ-चेन्-गम्पो ने अपने राज्य के संचालन में लिपि एवं भाषा के महत्त्व को समझा। उन्होंने थोन्मी-संभोट के साथ सोलह तिब्बती विद्यार्थियों को विद्याध्ययन के लिए भारत भेजा। इन तिब्बती विद्यार्थियों में अकेले थोन्मी-संभोट ही ऐसे भाग्यशाली विद्यार्थी थे, जो भारत की गर्मी में जीवित बच पाए। अन्य सारे विद्यार्थी भारत में ही मृत्यु को प्राप्त हो गए।

थोन्मी-संभोट ने कई वर्षों तक भारत में विद्या अध्ययन किया। साथ ही उन्होंने राजा के आदेशानुसार अपने देश की भोट भाषा के लिए तत्कालीन भारतीय लिपि के आधार पर 'उचेन' नामक एक भोटी लिपि का निर्माण

किया। भोट भाषा के लिए भारतीय भाषा की भाँति सभी स्वरों की आवश्यकता न होने पर, उन्होंने भारतीय भाषा के अन्य स्वरों को छोड़ कर भोट भाषा के लिए चार स्वरों यानि इ,उ,ए, ओ को ही रखा तथा व्यंजन वर्ग के चतुर्थ अक्षर घ, झ इत्यादि और मूर्धन्य ष को भी भोट भाषा के लिए अनावश्यक समझकर, छोड़ दिया। साथ ही उन्होंने भोट भाषा के विशेष उच्चारणों के लिए च़ छ़ ज़ श़ स़ ह़ (S)– इन छह नये अक्षरों का निर्माण किया। अ को लेकर भोट भाषा के लिए कुल तीस व्यंजनों का निर्माण किया। उन्होंने पाणिनि व्याकरण की भाँति आठ अध्यायों वाले एक व्याकरण ग्रन्थ की रचना की। संस्कृत के कुछ बौद्ध सूत्र ग्रन्थों को भी उन्होंने भोट भाषा में रूपान्तरित किया।

राजा स्रोङ-चे़न्-गम्पो ने ल्हासा के चगस-रि यानि लोह पर्वत की एक गुफा में चार वर्षों तक रहकर थोन्मी-संभोट से भोटी लिपि तथा व्याकरण सीखा। अपनी प्रजा को भी भोटी लिपि तथा व्याकरण सीखने का आदेश जारी किया। तिब्बत के इतिहास में सम्राट स्रोङ-चे़न्-गम्पो न केवल एक सुशासक ही था, बल्कि वह तिब्बत में आनेवाले साहित्य, कला, धर्म, राजनीति आदि सभी का निर्माता था। यद्यपि उन्होंने अपने पड़ोसी राष्ट्रों से लेकर बहुत सारी बातें अपने देशवासियों को दीं, किन्तु उन्होंने सदैव इस बात का ध्यान रखा कि जो भी पड़ोसी राष्ट्रों से ग्रहण किया जाए, उसका तिब्बतीकरण करके ही ग्रहण किया जाए। यही कारण है कि आज भी तिब्बत के वासी दुनिया के किसी भी कोने में निवास करते हैं, वे अपनी मूल संस्कृति, वेशभूषा, भाषा तथा परम्परा से कभी विलग नहीं होते।

स्रोङ-चे़न्-गम्पो की मृत्यु के बाद उनका पौत्र मङ्-स्रोङ्-मङ्-च़न तिब्बत का राजा बना। उसके बाद दुर-स्रोङ् और ठि-ल्दे-चुग-तन के बाद ठि-स्रोङ्-ल्दे-च़न को छोटी आयु में राजगद्दी पर बैठना पड़ा। यही राजा आगे चल कर तिब्बत का अशोक बना। उसने न केवल अपने राज्य का विस्तार किया, अपितु नालन्दा महाविहार के प्रकांड पंडित आचार्य शान्तरक्षित तथा उड्डियान के महासिद्धाचार्य पद्मसम्भव को तिब्बत में आमन्त्रित कर वहाँ बौद्ध धर्म का व्यापक प्रचार किया। तब तक तिब्बत में न तो किसी विहार की स्थापना हुई थी और न ही कोई तिब्बतवासी भिक्षु बना था।

राजा ठि-स्रोङ्-ल्दे-च़न ने आचार्य शान्तरक्षित की देख-रेख में मगध के राजा धर्मपाल (768-809 ई.) द्वारा बनवाए ओदन्तपुरी महाविहार के नमूने के आधार पर तिब्बत में समये नामक विहार की स्थापना की। इस विहार की स्थापना पृथ्वी की परिकल्पना के आधार पर की गई थी। इसके मध्य में

प्रधान विहार सुमेरू पर्वत, इसके चारों कोनों में चार विहार चार महाद्वीपों और आठ विहार आठ उपमहाद्वीपों की परिकल्पना पर आधारित थे। विहार हों और उसके भीतर भिक्षु न हों तो बात बनती नहीं। राजा चाहते थे कि तिब्बत के पुरुष भिक्षु की दीक्षा लें। इसलिए आचार्य शांतरक्षित ने नालन्दा महाविहार से बारह सर्वास्तिवादी भिक्षुओं को तिब्बत आमन्त्रित किया और 817 ई. में तिब्बत के—1. ज्ञानेन्द्र 2. पलयङ्स 3. शीलेन्द्र रक्षित 4. रिन्छेन छोग 5. क्लुई-वङ्-पो 6. देवेन्द्र रक्षित 7. वैरोचन रक्षित को प्रथम बार सर्वास्तिवादी परम्परा के अनुसार भिक्षु की दीक्षा प्रदान की गई। इस प्रकार दुनिया की छत कहे जानेवाले तिब्बत में प्रथम बार भिक्षु संघ की स्थापना हुई। आचार्य शांतरक्षित ने तिब्बत में भिक्षु संघ और बौद्ध विहार की स्थापना करके तिब्बत में बौद्ध धर्म की जड़ों को दृढ़ता प्रदान की। सम्राट ठि-स्रोङ्-ल्दे-च़न की 845 ई. में मृत्यु हो गई। उसके बाद उनका द्वितीय पुत्र मुनि-च़न-पो (845-846 ई.) राजा बना। उसके बाद मुनि च़न-पो का सबसे छोटा भाई ठि-ल्दे-च़न पो राजा बना। ठि-ल्दे-च़न-पो के बाद उनके छोटे पुत्र ठि-चुग-ल्दे-च़न (877-910 ई0) जो ठि-रलपा-चन के नाम से ख्यात हैं, को बड़े भाई लङ्दरमा के रहते हुए भी योग्य मान कर राजा बनाया गया। यहाँ तक तिब्बत में बौद्ध ध र्म को किसी प्रकार की विपरीत परिस्थितियों का सामना नहीं करना पड़ा।

ठि-रल-पा-चन के राजा बनते ही तिब्बत में बौद्ध धर्म विरोधी मंत्रियों को राजा के विरुद्ध षड्यन्त्र रचने का अवसर मिल गया। उन्होंने लङ्दरमा का पक्ष लिया। लङ्दरमा ने अपने विश्वास पात्रों की सहायता से अपने छोटे भाई ठि-रल-पा-चन को मौत के घाट उतार दिया और स्वयं तिब्बत का राजा बना। वह बौद्ध धर्म विरोधी राजा था। उसने तिब्बत से बौद्ध धर्म को सदा के लिए मिटा डालने की ठानी। बौद्ध विहारों को बन्द करवा दिया और भिक्षुओं को गृहस्थ बनने के लिए विवश किया। जो गृहस्थ नहीं बने, उन्हें तीर लेकर शिकारी बनने के लिए मज़बूर किया। कितने ही भिक्षु मार दिए गए। ऊँचे-ऊँचे पदों पर बौद्ध धर्म के विरोधियों की नियुक्ति कर दी। अनुवाद कार्य के लिए बनाए गए गृहों और पाठशालाओं को नष्ट कर दिया गया। कितने ही ग्रन्थ जला डाले गए। कहा जाता है कि थोन्मी-संभोट द्वारा रचित आठ अध्यायों वाले व्याकरण ग्रन्थ के छह अध्याय उसी समय नष्ट हो गए थे। बहुत सारे पंडितों और अनुवादकों को ल्हासा छोड़कर भागना पड़ा।

यद्यपि इस बौद्ध धर्म विरोधी राजा को भी तीन साल के अल्पकाल में ललुङ्-पल-गि-दोर्जे ने धोखे से तीर मार कर मौत के घाट उतार दिया था,

किन्तु लङ्दरमा ने इन तीन सालों में बौद्ध धर्म को बहुत क्षति पहुँचाई। लङ्दरमा के बाद ओद स्रुङ् (902-965 ई.) तिब्बत का राजा बना। इसके बाद ओद-स्रुङ् का पुत्र पल-खोर-चन (965-982 ई.) राजा हुआ। लङ्दरमा की मृत्यु के बाद उसके पुत्र तथा पौत्र ने लङ्दरमा की ग़लती को नहीं दोहराया। किन्तु ये दोनों स्रोङ-चेन्-गम्पो द्वारा स्थापित विशाल साम्राज्य को अपने पूर्वजों की भाँति संगठित नहीं रख पाए। सम्पूर्ण तिब्बत पुनः छोटे-छोटे स्वतन्त्र भागों में बंट गया।

पलखोर चन के दूसरे पुत्र ठि-क्यिद-ल्दे-ञिमा-गोन को ल्हासा छोड़ने के लिए विवश होना पड़ा। उसे अपने एक सौ विश्वास पात्र घुड़सवारों के साथ ल्हासा से पश्चिमी तिब्बत में ङरि की ओर भाग आना पड़ा। वहाँ उसने विश्वास पात्रों की सहायता से अपने लिए 982 ई. में र-ल में लाल महल बनवाया। 983 ई. में इन्होंने चे-शोक-यरि नामक एक और महल बनवाया। ङरि के पुरङस भाग के शासक गेशेस चन का शायद कोई पुत्र नहीं था। उसकी एक कन्या थी। उन्होंने ठि-क्यिद-ल्दे-ञिमा-गोन को अपनी राजधानी पुरङ्स में बुलाया और अपनी कन्या के साथ अपना पुरङ्स का राज्य भी उन्हें प्रदान कर दिया।

उसके बाद ठि-क्यिद-ल्दे-ञिमा-गोन ने ङरि-कोर-सुम यानि लद्दाख, गुगे, पुरङ्स को अपने अधिकार में करके एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की। ठि-क्यिद-ल्दे-ञिमा-गोन के तीन पुत्र थे। उन्होंने अपने राज्य को तीन पुत्रों में बाँट दिया। बड़े पुत्र पल-गि-गोन को लद्दाख, मंझले पुत्र टशि गोन को गुगे और छोटे पुत्र दे-चुग-गोन को पुरङ्स के क्षेत्र दिये। टशि गोन के दो पुत्र क्रमशः खोर-रे और स्रोङ्-ङे थे। स्रोङ्-ङे ने अपने जीवन के पूर्वार्द्ध में गुगे की राजगद्दी को सुशोभित किया और उत्तरार्द्ध में प्रव्रजित हो कर वे ये-शेस-ओद यानि ज्ञानप्रभ के नाम से भिक्षु हुए। इनके बाद गुगे राज्य के उल्लेखनीय उत्तराधिकारियों में ल्ह-ल्दे और जङ्छुव-ओद (बोधिप्रभ) आते हैं।

गुगे के उपर्युक्त तीनों राजाओं ने अपने पूर्वजों की भाँति पश्चिमी तिब्बत में बौद्ध धर्म की अपरिमित सेवा की। गुगे के इन राजाओं को महानुवादक रत्नभद्र जैसे उद्‌भट्ट विद्वान मिले, जिन्होंने पश्चिमी तिब्बत में बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार में विशेष भूमिका निभायी। महानुवादक रत्नभद्र का जन्म सन् 958 ई. में गुगे के क्युवङ् रदनी में पिता वनछेनपो जोन-नु वङछुग और माता कुनज़ङ् शेस रब तनपा के यहाँ हुआ था। उनका बचपन का नाम रिन्छेन वङ्छुग था। उनका रत्नभद्र नाम उनकी प्रव्रज्या के समय गुरु द्वारा रखा नाम

है। वह बचपन से ही विलक्षण प्रतिभा से सम्पन्न थे। 18 वर्ष की आयु में वह तत्कालीन बौद्ध धर्म, दर्शन तथा तंत्र के गढ़ रूप में ख्यात कश्मीर गए। वहाँ उन्होंने कुल 13 वर्षों तक रहकर विभिन्न भारतीय आचार्यों से बौद्ध धर्म, दर्शन तथा तन्त्र के शास्त्रों का गहन अध्ययन किया। साथ ही उन्होंने उन ग्रन्थों का अपने गुरुओं की सहायता से भोट भाषा में रूपान्तरण भी किया। कश्मीर से स्वदेश लौटने पर उन्हें गुगे के राजा ल्ह-ल्दे ने अपना वज्राचार्य नियुक्त किया। साथ ही उन्हें ङरि में बौद्ध विहारों की स्थापना का कार्य भी सौंपा।

महानुवादक रत्नभद्र ने अपने जीवन में लद्दाख, गुगे, पुरङ्स तथा लाहुल-स्पीति में असंख्य स्तूपों के निर्माण के साथ एक सौ आठ बौद्ध विहारों की स्थापना की। यद्यपि आज महानुवादक रत्नभद्र द्वारा स्थापित बहुत सारे बौद्ध विहार काल-कवलित हो चुके हैं, किन्तु जहाँ कहीं भी उनके बौद्ध विहार ध्वस्त होने से बचे हैं, वे तत्कालीन गौरवपूर्ण बौद्ध मूर्तिकला, भित्ति चित्रकला, स्थापत्य कला के जीते-जागते उदाहरण हैं। उनके द्वारा स्थापित बौद्ध विहारों में स्पीति के ताबो गाँव में स्थित विश्व विख्यात बौद्ध विहार भी एक है, जिसकी जून 1996 में हिमाचल प्रदेश सरकार ने अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर हज़ारवीं वर्षगाँठ मनाई। स्पीति में महानुवादक रत्नभद्र द्वारा स्थापित मूल रूप में विद्यमान एक और विहार ललुङ् में है। लाहुल में जोलिङ् का बौद्ध विहार अत्यन्त ही जीर्ण-शीर्ण अवस्था में है। लद्दाख में उनके द्वारा स्थापित बौद्ध विहारों में अलची विहार आदि मूल रूप में विद्यमान हैं।

किन्नौर में भी रत्नभद्र के कई विहार मूल रूप में बचे हुए हैं। उन बौद्ध विहारों में पंगी, चारङ्, आसरङ् (तोकतो) रोपा, सुन्नम, पूह, चुलिङ्, नाको, चांगो के बौद्ध विहार उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त किन्नौर में रत्नभद्र ने कल्पा, ठंगी, छितकुल, मोने (कामरू), रिब्बा, कानम, शेलखर में भी अपने विहारों की स्थापना की थी। इन गाँवों में रत्नभद्र द्वारा स्थापित बौद्ध विहार काल-कवलित हो चुके हैं। उनकी जगह गाँववालों द्वारा बाद में निर्मित बौद्ध विहार स्थापित हैं।

तिब्बत के राजा स्रोङ्-च़ेन्-गम्पो से लेकर ठि-रल-पा-चन तक यानी सातवीं शताब्दी से लेकर नौवीं शताब्दी तक बौद्ध धर्म का बहुत प्रचार-प्रसार रहा। इस काल में बौद्ध धर्म तिब्बत से किन्नौर आदि क्षेत्रों में भी पहुँचा हो, ऐसा प्रमाण उपलब्ध नहीं है। तिब्बत के राजा ठि-स्रोङ्-ल्दे-च़न के काल में उड्डियान के महासिद्धाचार्य पद्मसम्भव, राजा के आमन्त्रण पर तिब्बत में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए पहुँचे थे। उन्होंने तिब्बत में आचार्य शांतरक्षित के साथ

मिलकर बौद्ध धर्म का इतना व्यापक प्रचार किया कि वे तिब्बत में द्वितीय बुद्ध के रूप में ख्यात हो गए। किन्नौर के नाको, सुन्नम के गुरजेस आदि कई स्थानों की शिलाओं पर महासिद्धाचार्य के चरणचिह्न मिलते हैं। इन से यह तो सिद्ध हो जाता है कि आचार्य पद्मसम्भव किन्नौर में पधारे थे, किन्तु उन्होंने इस क्षेत्र में बौद्ध धर्म का प्रचार भी किया था, ऐसा प्रमाण नहीं मिलता। ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य पद्मसम्भव की इस क्षेत्र की यात्रा एक सिद्धयात्रा थी। वह इस क्षेत्र में पधार कर धर्म प्रचार किये बिना चुपचाप आगे निकल गए थे।

किन्नौर आदि क्षेत्रों के लिए महानुवादक रत्नभद्र ही एक ऐसे व्यक्ति हैं, जिन्होंने पहले-पहल बौद्ध धर्म के आलोक से प्रेरित होकर इस क्षेत्र में कई स्थानों पर बौद्ध विहार की स्थापना करके बौद्ध धर्म की जड़ों को सदा के लिए दृढ़ता के साथ जमा दिया। यही कारण है कि आज महानुवादक रत्नभद्र द्वारा स्थापित ताबो जैसा बौद्ध विहार अपनी स्थापना के एक हज़ार वर्ष पूर्ण करने पर भी दुनिया के आकर्षण का केन्द्र बना हुआ है। महानुवादक रत्नभद्र जैसे वहुआयामी व्यक्तित्व के धनी विद्वान यदि गुगे के राजाओं को न मिले होते तो वे बौद्ध धर्म की इतनी अधिक सेवा न कर पाते।

महानुवादक रत्नभद्र (लोछेन-रिन्छेन ज़ङ्-पो) की अवतार परम्परा है। उनके अवतारों के क्रम में प्रथम महाश्रावक राष्ट्रपाल आते हैं। प्रथम पाँच अवतार सम्भवतः भारत के कश्मीर आदि विभिन्न स्थानों में हुए थे। आज तक इन महानुवादक के इक्कीस अवतार हो चुके हैं। उनके पाँचवें अवतार के वाद के सभी अवतार सतलुज तथा स्पीति नदी की उपत्यका में ही हुए हैं। महानुवादक रत्नभद्र के अवतार क्रम में छठे स्थान में जो हुए, उन्होंने इस क्षेत्र में दसवीं शताब्दी में बौद्ध धर्म को स्थायी तौर पर प्रतिष्ठित किया। उनके वाद के अवतार भी इस हिमालय क्षेत्र पर कृपा करते आ रहे हैं।

आज किन्नौर में जो बौद्ध धार्मिक सम्प्रदाय प्रचलित हैं, वे सारे तिब्बत में विकसित हुए हैं। तिब्बत में विकसित चार प्रमुख बौद्ध धार्मिक सम्प्रदायों में ञिङमा, कर्ग्युद, साक्या और गेलुगस आते हैं। ञिङमा यानी पुरातन सम्प्रदाय के प्रवर्तक उड्डियान के महासिद्धाचार्य पद्मसम्भव, कर्ग्युद सम्प्रदाय के प्रवर्तक मरपा छोस-कि-लोडोस, साक्या सम्प्रदाय के प्रवर्तक खोन कोन छोग और गेलुगस सम्प्रदाय के प्रवर्तक चोङखा नामक क्षेत्र विशेष के लोज़ङ डगस-पा थे। इन चारों सम्प्रदायों की आगे कई शाखाएँ, उपशाखाएँ तथा प्रशाखाएँ भी विकसित हुई हैं। सबसे अधिक शाखाएँ, उपशाखाएँ तथा

प्रशाखाएँ कर्ग्युद सम्प्रदाय से निकलीं हैं। किन्नौर में ञिङमा, कर्ग्युद तथा गेलुगस सम्प्रदाय प्रचलित हैं। इन तीनों सम्प्रदायों के बौद्ध विहार भी हैं। साक्या सम्प्रदाय का किन्नौर में बौद्ध विहार नहीं है।

वर्तमान में किन्नौर के अधिकांश गाँवों में एक या एक से अधिक बौद्ध विहार विद्यमान हैं। महानुवादक रत्नभद्र द्वारा स्थापित बौद्ध विहारों के अतिरिक्त अन्य सारे बौद्ध विहार बाद के वर्षों में गाँववालों द्वारा बनाए गए हैं। किन्नौर में विद्यमान बौद्ध विहारों में से बहुत कम ऐसे हैं, जिनके भित्ति-लेखों में उनके स्थापना-काल का वर्णन है। अधिकांश बौद्ध विहारों के निर्माण काल के बारे में कुछ भी मालूम नहीं है। इस कारण स्थापना-काल के अनुसार उनका विभाजन करना मुश्किल है। इन बौद्ध विहारों को स्थानीय लोग भोटी भाषा के अनुसार ल्ह-खङ् (लाखङ-देवालय) द्गोन-प (गोन्-पा-अरण्य) ब्ल-ब्रङ् (लाब्रङ्-गुरु-आवास), ग्चुग-लग-खङ् (उच्चा-चुग-लग-खङ) विहार कहते हैं। ये बौद्ध विहार अपने में सुसम्पन्न ग्रन्थालय तथा संग्रहालय होते हैं। इन में बौद्ध धर्म, दर्शन तथा तन्त्र की सैंकड़ों पांडुलिपियाँ हैं, जिन्हें कंग्युर-तंग्युर संग्रह भी कहते हैं।

तिब्बत के आचार्यों द्वारा लिखित बौद्ध धर्म-दर्शन से सम्बंधित सैंकड़ों शास्त्र, जिन्हें सुङ बुम कहते हैं, मिट्टी, काष्ठ तथा विविध धातुओं से निर्मित बुद्ध बोधिसत्त्वों तथा बौद्ध देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ, स्तूप, थङ्का पटचित्र, विविध पूजा उपकरण यथा वाद्ययन्त्र, जलदान पात्र, जलकलश, दीपदान पात्र, धूपदान पात्र आदि भी इन संग्रहालयों में होते हैं। इन विहारों के भीतर की सारी भित्तियाँ भी बुद्ध बोधिसत्त्वों तथा बौद्ध देवी-देवताओं के चित्रों से चित्रित होती हैं। इन बौद्ध विहारों में छम नृत्य के समय पहने जानेवाले मुखौटे, वस्त्र तथा रुस ग्यन यानी अस्थि आभूषण, शस्त्र आदि भी हैं। किन्नौर के अधिकांश बौद्ध विहारों के बाहरी कक्ष में दुङ्ग्युर (प्रार्थना चक्र) मणे लगखोर (मने हस्त चक्र) भी स्थापित हैं। श्रद्धालु इन प्रार्थना चक्रों को घुमाकर पुण्य अर्जित करते हैं।

किन्नौर आदि हिमाचली क्षेत्रों में बौद्ध धर्म से सम्बद्ध दो चीज़ें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन में एक है यहाँ की 'कंकणियाँ'; इनका सम्बंध प्राचीन भारतीय संस्कृति से है। ये नगर स्थापना की कला के एक अंश के रूप में आती हैं। प्राचीन समय में भारत में नगर बसाते समय नगर के बाहर एक तोरण का निर्माण होता था। कंकणी उसी तोरण का बौद्ध संस्करण है। कंकणियों का निर्माण गाँव के प्रवेश मार्ग पर होता है। इन कंकणियों की

भीतरी छत में ध्यानी बुद्ध अक्षोभ्य का मंडल चित्रित होता है। साथ ही मंडल के चारों ओर अक्षोभ्य बुद्ध का धारणी मंत्र भी लिखा होता है। कंकणियों की भीतरी छतों में अक्षोभ्य मंडल के साथ-साथ अष्ट भैषज्य गुरुओं, चतुर्महाराजिक देवों, त्रिगोत्र-नाथ देवों आदि के चित्र भी अंकित होते हैं। कंकणियों की छतों पर स्तूप स्थापित होते हैं। इनके नीचे से ध्यानी बुद्ध अक्षोभ्य को नमस्कार सहित स्मरण करते जाने से मनुष्य दुर्गति में पतित नहीं होता है– ऐसा माना जाता है।

जिस प्रकार प्राचीन समय में भारतीय लोग अपने अति विशिष्ट अतिथियों को नगर के बाहरी तोरण से स्वागत करते हुए नगर में प्रवेश कराते थे और उनकी विदाई के लिए भी लोग नगर से तोरण तक ही आते थे; उसी प्रकार किन्नौर में आज भी अपने अति विशिष्ट अतिथियों को अपने गाँव की कंकणी से अपनी परम्परागत रीति से गाजे-बाजे के साथ उनकी बड़ाई में गाना गाते तथा स्वागत करते हुए गाँव में प्रवेश कराते हैं और उनकी विदाई के लिए भी गाँववाले गाजे-बाजे के साथ बाहरी तोरण तक ही आते हैं। अपने नगर बसाने की प्राचीन परम्परा के इस अंश को लोग भले ही अब भूल रहे हों, किन्तु किन्नौर आदि हिमालयी बौद्ध क्षेत्रों में इसे अब भी देखा जा सकता है।

किन्नौर की दूसरी उल्लेखनीय चीज़ है यहाँ के धार्मिक शिला-लेख। इन धार्मिक शिला-लेखों को स्थानीय लोग मणे और उनकी लम्बी-लम्बी दीवारों को मनदङ्/मनधङ् कहते हैं। इन धार्मिक शिला-लेखों में प्रायः महाकारुणिक आर्यावलोकितेश्वर के नाम-मंत्र *'ओम् मणि पद्मे हूँ'* ही खुदे होते हैं। इस नाम-मंत्र के कारण ही इन्हें 'मणे' कहते हैं। 'मणे' महाकारुणिक आर्यावलोकितेश्वर के नाम-मंत्र का हिमालयवासियों द्वारा दिया संक्षिप्त नाम है। इस नाम-मंत्र के अलावा इन धार्मिक शिला-लेखों में महासिद्धाचार्य पद्मसम्भव के नाम-मंत्र *'प्रज्ञापारमित हृदय, वज्रछेदिका प्रज्ञापारमिता'* आदि महायानी सूत्र भी खुदे होते हैं। इन शिलाओं में भगवान बुद्ध, मञ्जुश्री, वज्रपाणि, आर्यावलोकितेश्वर के रेखा-चित्र भी उकेरे होते हैं। इन धार्मिक शिला-लेखों के मध्य एक-एक ऐतिहासिक शिला-लेख भी होता है, जिसमें किस राजा के काल में, किस मृत्यु प्राप्त व्यक्ति के पुण्यार्थ, किन व्यक्तियों ने इन धार्मिक शिलालेखों को खुदवाया है, ये सब लिखा होता है।

इसके अलावा पुराने समय में यदि किसी व्यक्ति को किसी कारणवश सजा देनी होती थी तो गाँववाले सजा के रूप में उसे धार्मिक शिला-लेख खुदवाने को देते थे। इस तरह की सज़ा के पीछे उस सजा पानेवाले व्यक्ति

के लिये मंगल की ही कामना होती थी। किन्नौर के अधिकांश धार्मिक शिला-लेखों यानी मणे से यह ज्ञात होता है कि इनमें अधिकतर बुशहर रियासत के राजा शमशेर सिंह (1850-1914 ई.) के काल में खुदवाये गए थे। इन में राजा शमशेर सिंह को छोस-ग्यल यानि धर्मराज कहा गया है। उनके काल में खुदे इन धार्मिक शिला-लेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि वे बौद्ध तथा हिन्दू दोनों सम्प्रदायों को समभाव से देखते थे। उनके काल में किन्नौर में कई बौद्ध विहार भी बने थे। किन्नौर के कई बुज़ुर्गों का कहना है कि उन्हें किन्नौर की 'हमस्कद' बोली अच्छी तरह आती थी और वे किन्नौरों के साथ इसी बोली में बातें करते थे।

चौदहवीं शताब्दी के बाद जब तिब्बत में सेरा, डेपुङ, गल्दन जैसे महाविहारों की स्थापना हो गई तो किन्नौर के विद्यार्थियों को बौद्ध धर्म, दर्शन तथा तंत्र शास्त्रों के अध्ययन के लिए तिब्बत जाने का अवसर मिला। तिब्बत पर सन् 1959 में चीन के जबरन कब्ज़े तक, किन्नौर के कितने लोग अपनी ज्ञान-पिपासा को शांत करने के लिए तिब्बत गए, इसका कोई लेखा-जोखा न होने से यहाँ लिख पाना कठिन है। किन्तु इतना ज़रूर कहा जा सकता है कि ऐसे विद्यार्थियों की संख्या कम नहीं थी। उस समय तिब्बत जाने के लिए कोई सुविधा नहीं होती थी। विद्यार्थी पीठ पर अपना सामान उठाकर पैदल जाते थे। कई बार मार्ग में ही दुर्भाग्यवश मृत्यु को प्राप्त हो जाते थे।

तिब्बत के उपर्युक्त महाविहारों में बौद्ध दर्शन तथा तन्त्र के शास्त्रों का उच्च अध्ययन करके वापिस अपने क्षेत्रों में पहुँचनेवाले लोगों ने भी किन्नौर में बौद्ध धर्म के प्रचार में बड़ी भूमिका निभाई है। इन लोगों ने किन्नौर में न केवल लोगों को बौद्ध धर्म के प्रति जागरूक किया, बल्कि किन्नौर के कई ग्राम-देवी-देवताओं को भी बौद्ध धर्म में दीक्षित किया। बौद्ध धर्म से दीक्षित होने के बाद किन्नौर के कई ग्राम-देवी-देवताओं ने अपनी पूजा में पशु बलि लेना तक बन्द कर दिया है।

कई ग्राम-देवी-देवता तो गाँव के मुख्य लामा से प्रार्थना करके दो-तीन महीने के लिए गाँव के बौद्ध विहार में जाकर समाधि में भी बैठते हैं। बौद्ध धर्म में श्रद्धा रखनेवाले ग्राम-देवी-देवता जब कभी गाँव के बौद्ध विहार के निकट से गुज़रते हैं तो एक श्रद्धालु व्यक्ति की तरह ही बौद्ध विहार तथा मुख्य लामा को नमस्कार करते हैं और बौद्ध विहार की तीन फेर प्रदक्षिणा भी करते हैं। कई-कई ग्राम-देवी-देवता बौद्ध विहार की मुरम्मत आदि कार्य के लिए दान भी देते हैं। वर्ष में एक बार अपने क्षेत्र के हितार्थ लामाओं से प्रज्ञापारमिता

आदि बौद्ध धार्मिक शास्त्रों का पाठ भी कराते हैं। छितकुल गाँव की ग्राम-देवी माथी गाँव के बौद्ध विहार के कोनञेर यानि पुजारी को वेतन भी अपने कोष से ही प्रदान करती है। चासङ् गाँव के देवता तो कई बार अपने गाँववालों से बुद्ध जयन्ती का आयोजन तक करवाते रहे हैं। किन्नौर के कुछ गाँवों के देवी-देवता अपने क्षेत्र में बड़े-बड़े लोगों को आमंत्रित करने के लिए अपने गाँववासियों को कहते हैं और उनके स्वागत के लिए गाज़े-बाज़े के साथ गाँव की कंकणी तक जाते हैं।

बीसवीं शताब्दी में किन्नौर के तीन महान विद्वानों ने तिब्बत से उच्चशिक्षा प्राप्त करने के बाद सम्पूर्ण बौद्ध हिमालय में अपने ज्ञान का प्रसार किया। इनमें प्रथम सुन्नम गाँव के स्व. तनज़िन ग्यल छन (शासनधर ध्वज) थे, जो अपनी विद्वता तथा बोधिसत्त्वचर्या के अनुकूल अपना जीवन प्राणिमात्र के हित में समर्पित करने के कारण सम्पूर्ण बौद्ध हिमालय में नेगी रिन्-पोछे (नेगी रत्न) के सम्बोधन से ख्यात हुए थे। बौद्ध धर्म, दर्शन में उनके प्रकांड पांडित्य के कारण उन्हें चौदहवें दलाई लामा के गुरुपद को अलंकृत करने का गौरव प्राप्त हुआ था। इसके अलावा उन्होंने सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के बौद्ध दर्शन विभाग में प्रथम सम्मानित प्राध्यापक पद को भी सुशोभित किया। अपने पूर्व जन्म में वह पूह गाँव के चीला गोन्पा के लामा माने जाते थे। उन्होंने अनेक ग्रन्थ भी लिखे हैं।

दूसरे उच्चकोटि के विद्वान ग्यावोङ् गाँव के स्व. गेशे रिगज़िन तनपा (विद्याधर शासन) हुए हैं। उन्होंने तिब्बत के डेपुङ् महाविहार से सर्वोच्च उपाधि लारम-पा (डॉक्टरेट) प्रथम श्रेणी में उतीर्ण की थी। प्रथम श्रेणी में डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त करनेवाले वे प्रथम भारतीय थे। उन्हें भी चौदहवें दलाई लामा के गुरुपद को अलंकृत करने का गौरव प्राप्त हुआ था। यही कारण है कि आज भी परम पावन दलाई लामा जब कभी किन्नौर का ज़िक्र करते हैं तो इन दोनों गुरुओं का अवश्य स्मरण करते हैं।

तीसरे उच्चकोटि के विद्वान खदुरा गाँव के स्व. गेशे पल्दन सेङ्गे हुए हैं। उन्होंने भी तिब्बत में कई वर्षों तक अध्ययन करके गेशे की सर्वोच्च उपाधि ग्रहण की है। वह तिब्बत पर सन् 1959 में पूर्ण चीनी कब्ज़े से पहले सन् 1956 में किन्नौर लौट आए थे। किन्नौर में उन्होंने ग्रेलिंगी गाँव में छोस-खोर-लिङ् गोन्पा की स्थापना की और इस गोन्पा के माध्यम से किन्नौर में बौद्ध धर्म, दर्शन की परम्परागत शिक्षा का प्रचार-प्रसार करते रहे। जब तिब्बत के विद्वानों ने कर्नाटक में बौद्ध धर्म, दर्शन की उच्च शिक्षा प्रदान करने के लिए

सेरा, डेपुङ् गल्दन, टशि लुन-पो जैसे महाविहारों की स्थापना की तो उन्होंने भी कर्नाटक में स्थापित डेपुङ् महाविहार में एक विभाग की स्थापना करके किन्नौर के विद्यार्थियों को बौद्ध धर्म, दर्शन की उच्च शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था की। इस समय इस विभाग में एक सौ के लगभग किन्नौर के विद्यार्थी बौद्ध धर्म, दर्शन की उच्च शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं। गेशे पल्दन छोस-खोर-लिङ् बौद्ध सेवा संघ किन्नौर के जीवनपर्यन्त अध्यक्ष रहे थे।

जहाँ तक ज्ञान की गतिविधियों का प्रश्न है, किन्नौर कभी पीछे नहीं रहा है। बीसवीं शताब्दी के पूवार्द्ध में किन्नौर के लिप्पा गाँव के स्व. लामा देवाराम ने भोटी पंचांग का प्रकाशन कर सम्पूर्ण तिब्बत को चकित कर दिया था। आज भी उनके वंशज अपनी इस विशिष्ट परम्परा को कायम रखे हुए हैं। इसके अतिरिक्त लिप्पा गाँव के लामा छेवङ्-नमग्यल (ज.1896-मृ.1972) ने तिब्बत जाकर उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। उन्होंने बौद्ध दर्शन से सम्बद्ध 320 पृष्ठों के एक अत्यन्त गम्भीर ग्रन्थ की न केवल रचना की, बल्कि उस ग्रन्थ को प्रकाशित करने के लिए उसके 320 काष्ठ ब्लाक भी तैयार किये थे, जो इस समय तोकतो गाँव के ताये परखङ् (प्रकाशन गृह) में सुरक्षित हैं।

पूह गाँव के स्व. थरछिन, जिन्हें मोरेवियन मिशन के पादरियों ने ईसाई धर्म में दीक्षित करके, पढ़ा-लिखा कर योग्य बनाया था, उन का भी ज्ञान की गतिविधियों में वहुत योगदान है। वह स्वयं ईसाई बनने के बाद कलिंपोङ् में बस गए थे और वहाँ उन्होंने मिरर-प्रैस की स्थापना करके कई ग्रन्थों का प्रकाशन किया था। उन्होंने एक भोटी समाचार-पत्र का भी वर्षों तक प्रकाशन किया था, जिससे तिब्बत के लोगों को नई-नई जानकारियाँ प्राप्त होती थीं। इधर किन्नौर के प्रो. सेम्पा दोरजे, स्व. जीता सेन नेगी, डॉ. बङ्छुग दोर्जे, डॉ. रमेश चन्द्र नेगी, रोशन लाल नेगी, डॉ. गुरचरण नेगी, डॉ. हीरा पालगंग नेगी, टशि छेरिङ् नेगी आदि विद्वान भी निरन्तर लेखन करते रहे हैं। सन् 1986 में 'छोस-खोर-लिङ् बौद्ध सेवा-संघ' ने 'विद्याभारती' नामक एक शोध पत्रिका का प्रकाशन शुरू किया, जो 13वें अंक तक चला। यह इस क्षेत्र का एक नवीन प्रकाशन था।

किन्नौर में साल भर में कई मेले-त्योहारों तथा उत्सवों के आयोजन होते हैं। ये मेले हिन्दू, बौद्ध, बोन तथा कुछ आदिम संस्कृति से प्रभावित हैं। किन्नौर के मेलों में दिवालङ्, बीश, चैत्रोल, शू-प्याच, उख्यङ् डखरेण, लोसर, ओरमी, लामोच, छोकोनच, गुरु-छनग्यद, जीठो, रवनस, पोनासिङ्, रङ् कोरङ चिम आदि प्रमुख हैं। इन मेलों में यहाँ के युवक-युवतियाँ, वृद्ध बिना किसी भेद-

भाव के मालानृत्य करते हैं। स्थानीय देवी-देवता भी लोगों के साथ मेले में शामिल होते हैं। जीवन का वास्तविक उल्लास अगर कहीं देखना हो तो किन्नौर के मेलों में देखा जा सकता है।

सन्दर्भ

1. सांकृत्यायन, राहुल : किन्नर देश, किताब महल, इलाहबाद, उ.प्र.
2. सांकृत्यायन, राहुल : तिब्बत में बौद्ध धर्म, किताब महल, इलाहबाद, उ.प्र.
3. सांकृत्यायन, राहुल : हिमाचल एक सांस्कृतिक यात्रा भाग–I, II वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1994
4. सिंह, मियाँ गोवर्धन : हिमाचल प्रदेश का इतिहास; मै. रिलायन्स पब्लिशिंग हॉऊस, नई दिल्ली, 1996
5. नेगी, विद्यासागर : महानुवादक रत्नभद्र; हिमाचल कला संस्कृति भाषा अकादमी, शिमला, 1996
6. कृष्ण नाथ : किन्नर धर्म लोक; सातवाहन प्रकाशन, दिल्ली
7. टुचि : Rin chen-Bzan-Po, Indo-Tibetica, II: Aditiya Prakashan, New Delhi, 1988.

निम्नलिखित लोगों से साक्षात्कार लिए गये–

स्व. गेशे पलदन सेङ्गे : अध्यक्ष छोस खोर लिङ् बौद्ध संघ, किन्नौर, हि.प्र.
स्व. भादर सिंह नेगी : ग्राम तोकतो, किन्नौर
प्रो. सेम्पा दोर्जे : ग्राम डुबलिङ्, किन्नौर
श्री हुक्म चन्द नेगी : ग्राम नाको, किन्नौर
श्रीमती सेमसकर : ग्राम चासङ्, किन्नौर
स्व. भगतराम नेगी : ग्राम चासङ्, किन्नौर

विपाशा : अंक-79, मार्च-अप्रैल, 1999 से

हिन्दुस्तान-तिब्बत रोड

कृष्ण नाथ

यह आलेख मूल रूप में मेरी प्रथम किन्नौर यात्रा (1976 ई.) के बाद लिखा गया था। इन वर्षों में सतलुज में बहुत पानी बह गया है। भारत-तिब्बत-चीन सम्बंधों में भी इस बीच बदलाव आ गया है। हिमालयी सीमान्त भी पहले जैसा नहीं है। इसके अलावा इस बीच किन्नौर के आर्थिक जीवन में शुभ-अशुभ परिवर्तन आये होंगे। जैसे, 1975-76 में जो मज़दूरी की दर, कीमत वगैरह नोट की गयी थी, वह तो निश्चय ही बढ़ी होगी। यद्यपि 18 वर्ष पूर्व की खोज को प्रस्तुत करने में दुविधा हो रही है, लेकिन हम मानते हैं कि इसकी मूलभूत स्थापनाओं में बुनियादी अंतर नहीं आया होगा और अगर कोई अंतर आया है तो इसमें संशोधन किया जा सकता है।

सन् 1987 की किन्नौर यात्रा में ज़िला प्रशासन के सहकार से मैंने हिन्दुस्तान-तिब्बत रोड पर कल्पा से नमग्या तक घोड़ों पर यात्रा की। अखबारों से सूचना मिली है कि भारत-तिब्बत के बीच व्यापार फिर प्रारम्भ हुआ है। नमग्या इसका सीमान्त केन्द्र है। व्यापार तो विश्वास के वातावरण में पनपता है। पता नहीं परम्परागत विश्वास और व्यापार कितना लौट पाया है, इसको देखने के लिए तो हिन्दुस्तान-तिब्बत रोड पर एक और यात्रा ज़रूरी है।

हिन्दुस्तान-तिब्बत रोड किन्नौर की परम्परागत ज़िन्दगी की रेखा है। नक्शे में यह सतलुज के साथ-साथ चलती है। ऊपरले प्रायः एक तिहाई हिस्से और निचले प्रायः दो तिहाई हिस्से को बाँटती है। डिस्ट्रिक्ट गज़ेटियर किन्नौर (शिमला, 1971) के अनुसार ऊपरी हिन्दुस्तान-तिब्बत रोड नेशनल हाईवे नं. 22 के 195 किलोमीटर पर टापरी से ऊपर चढ़ती है। फिर 269 किलोमीटर पर श्यासो में नेशनल हाई-वे में मिल जाती है। इसकी लम्बाई

93 किलोमीटर है। यह सतलुज के दाहिने किनारे पर बसे कल्पा, पडे, रारङ, जंगी, लाबरङ, कानम जैसे गाँवों को जोड़ती है। यह मूल रूप से 1960 ई. तक पहाड़ी सड़क (ब्रिडल पाथ) थी। इसलिए इसमें खड़ी चढ़ाई-उतराई है। यह शिमला से रामपुर (बुशहर) होकर किन्नौर में प्रवेश करती है और शिपकी ला (दर्रा) पारकर तिब्बत चली जाती है। किन्नौर के दक्षिण-पश्चिम में 29 किलोमीटर पर रामपुर (बुशहर) है। उत्तर-पूर्व में शिपकी-ला पार कर तिब्बत में 167 किलोमीटर पर गर्तोक है। इस सड़क से होकर किन्नौर का परम्परागत व्यापार तिब्बत से होता था और सिर्फ व्यापार ही नहीं, पूरा जीवन-धर्म, रीति-रिवाज़, सम्बंध, सुख-दुःख इस पर निर्भर था। किन्नौर का ध्यान आते ही स्थूल रूप से हिन्दुस्तान-तिब्बत रोड का ध्यान आता है। सिर्फ इसका इतिहास, भूगोल नहीं। यह तो ठीक-ठीक मालूम नहीं, लेकिन पूरी ज़िंदगी की हरकत इस पर टंगी हुई दिखती है।

बासठ के चीनी आक्रमण के बाद वांग्तु के ऊपर एक नयी सड़क बन गयी है। यह 'इंडो तिब्बत बॉर्डर रोड' कहलाती है। इस सड़क पर काम सार्वजनिक निर्माण विभाग ने प्रारंभ किया। 1961 के प्रारंभ में टापरी तक यह जीप लायक बन गयी थी, फिर यह काम बॉर्डर रोड्स ड्वेल्पमेंट बोर्ड को सौंपा गया। इसका निर्माण कार्य इस संगठन द्वारा पूरा किया गया। ज्ञातव्य है कि बार्डर रोड्स का यह बोर्ड भारत सरकार के परिवहन एवं प्रतिरक्षा मंत्रालयों के अंतर्गत है। अब यह समदू तक भारी वाहन के चलने लायक है।

यह ज़्यादा करके प्रतिरक्षा के लिए बनाई गयी है। वांग्तु के ऊपर प्रतिरक्षा की 'इनर लाइन' है। किन्नौर के इस अंतःपुर में प्रवेश परमिट से होता रहा है। यह नयी सड़क किन्नौर की नयी संचार-रेखा है। इस पर 1968 में पहली बार बस चलने लगी और आना-जाना शुरू हुआ। इसके भी पहले सड़क और सुरक्षा के लिए पलटन, पुलिस और कारीगर नीचे से आये। इस तरह मैदान की हवा हिमालय की इस कोख को लगने लगी। पहले रामपुर पहुँचने में हफ़्ता-दस दिन लग जाते थे। अब जेब में पैसा हो तो एक दिन में शिमला पहुँचा जा सकता है। संचार के साथ नये जीवन मूल्य, तौर-तरीके भी हिमालय की इस कोख में आ रहे हैं। किन्नर-किन्नरियाँ दौड़ में पड़ गये हैं। अशांत हो गये हैं। हिमालय की शांति अंदर-बाहर से भंग हो रही है। एक कसमसाहट है। यह नयी सड़क के इर्द-गिर्द है।

किन्नौर की पुरानी जीवन-रेखा हिन्दुस्तान-तिब्बत रोड है। यह हिन्दुस्तान-तिब्बत के व्यापार और संस्कृति की पुरानी सड़क है। हज़ारों वर्षों से व्यापारी,

तीर्थयात्री, लामा, शांति के खोजी, सैलानी इससे तिब्बत आते-जाते रहे हैं। 62 के चीनी आक्रमण के पहले यह एक मँजी हुई सड़क थी। अब यह जगह-जगह टूटी हुई है। किन्नौर के गाँव इसी पर हैं। ये सब ऊपर को बसे हुए हैं। नयी सड़क नीचे से जाती है। इसलिए ये सब गाँव संचार के नये रास्ते से छूट गये हैं। बेतुके लगते हैं। यह नयी सड़क ही चालू है। पुरानी सड़क टूटी-फूटी है; उस पर बसे हुए गाँव, लोग और ज़िन्दगियाँ भी। नक्शे पर यह सड़क जीप के चलने लायक बनायी जाती है। जब कोई बड़ा आदमी (वी. आई.पी.) इस सड़क पर कभी-कभार आता है तो यह चालू कर दी जाती है। शेष समय यह जगह-जगह पर कटी रहती है। हिमाचल प्रदेश का सार्वजनिक निर्माण विभाग इसकी मुरम्मत कराता है। इसके पास पैसे और साधनों की इतनी कमी है कि यह मरम्मत नाम की हो पाती है। तब तक जाड़ा आ जाता है, बर्फ़ पड़ती है। ग्लेशियर आ जाते हैं। यह सड़क फिर टूट-फूट जाती है।

इस पुराने हिन्दुस्तान-तिब्बत रोड को चालू रखने के अलावा गाँवों को जोड़ने का कोई रास्ता नहीं है। यह रास्ता और इसकी ज़िन्दगी भारत-तिब्बत व्यापार से जुड़ी है। रारंग के ऊपरवाले गाँव के लोग तिब्बत से व्यापार करते थे। प्रायः हर घर से एक या दो आदमी इस व्यापार में लगे हुए थे। कानम, मोरङ्, पूह, सुन्नम के लोग जाते थे। रामपुर (बुशहर) में मेला लगता था। आषाढ़ के अंत में यहाँ से जाते थे। तिब्बत से लगभग 6 महीने बाद कार्तिक में लौट कर रामपुर के मेले में आते थे। रामपुर मेले में नीचे से आए अमृतसर, अंबाला, जगाधरी, दिल्ली के व्यापारियों से बर्तन, कपड़ा, राशन-गेहूँ चावल खरीदते थे। एक-एक के पास साठ बकरे होते थे। एक-एक पर आठ-दस किलो लाद कर ऊपर जाते थे। ऊपर से ऊन, पशम, सुहागा, नमक, खड्डू, बकरे, घोड़े ले आते थे। हज़ारों बकरों, घोड़ों पर सामान आता-जाता था। फिर इन बकरों, घोड़ों को भी बेच देते थे। इनके आने-जाने से रास्ता मंजता था। अब कुछ भी नहीं होता। 62 के चीनी आक्रमण के बाद भारत-तिब्बत व्यापार प्रायः ठप्प है। बकरे, घोड़े तो आते नहीं, चोरी से सिर्फ ऊन आती है। अब यह व्यापार खत्म है।

ऊपरले किन्नौर में रहते हुए मैंने यह महसूस किया कि इस व्यापार के बिना न तो यह रास्ता संवर सकता है, न यहाँ की अर्थ-व्यवस्था, न ज़िंदगी। वैसे कुछ न कुछ ज़मीन सबकी है। इसलिए कुछ खेती, कुछ दुकानदारी, कुछ और पेशों में हैं। पुराने व्यापारियों के बच्चे कहीं न कहीं नौकरी में हैं। इनके पास पैसा भी था। बाहर जाकर देखा भी था। एकाध सबके नौकरी में लगे

हुए हैं। पैसा न हो तो पुरानी जायदाद है। पुरानी चीज़ें हैं। दुर्लभ वस्तुएँ हैं। बेची जाएँ तो उनका मूल्य है। जो बाहर नौकरी में हैं वे, जो सिर्फ खेती करते हैं, उनसे अच्छे हैं। इसके अलावा सड़क पर काम करते हैं। लड़के-लड़कियाँ, युवक-युवतियाँ सड़कों पर काम करते दिखते हैं। इन्हें 1976 में प्रायः 6 रुपये रोज़ इस काम में मिल जाते थे। इसे ये जैसे चाहें खर्च करते हैं। घर के लोग पूछते नहीं। पैसे और स्त्री-पुरुष सम्बंध के मामले में किन्नर-किन्नरी स्वतन्त्र हैं।

किन्नौर में नीचे मैदानों जैसी बेकारी नहीं है। वैसे खास कमायी भी नहीं है। खेती में लक्ष्मी नहीं है। लक्ष्मी तो व्यापार में बसती है। अभी भी ये थोड़ा व्यापार करते हैं। ऊपरले किन्नौर से बकरा लाकर नीचे बेच देते हैं। 1976 में ऊपर लगभग 250 रुपये में खरीदते थे तो नीचे लगभग 300 रुपये में बेच देते थे। इसे भी वे व्यापार कहते हैं। किन्तु असल व्यापार तो उनका तिब्बत से था; जो अब ठप्प है।

किन्नौर के बाज़ारों–कल्पा, पिओ, पड़े, पूह, समदू में दूर नीचे से आकर सामान बिकता है। किन्नौर का प्रायः कोई सामान इन कस्बों में नहीं मिलता। सबकुछ शिमला, अंबाला, लुधियाना, चंडीगढ़ से आता है। सिर्फ एक किन्नौरी पट्टी कहीं-कहीं बिकती है। यह ऊनी पट्टी किन्नौर की विशेषता है। इसको ऊपर घरों में खुद कात लेते हैं। गाँव-गाँव में जुलाहे इसे बुन देते हैं। ये 12-15 हाथ की लम्बी होती है। चौड़ी कम होती है। सफेद और स्याह पर परम्परागत बुनाई उभरती है। किन्नर-किन्नरी इसके वस्त्र बनाते हैं। पुरुष पैजामा और कोट बनाते हैं। लड़कियाँ भी कोट पहनना पसंद करती हैं। वे भी इस पट्टी से ही कोट बनाती हैं। इस पट्टी के बंद गले के कोट–प्रिंस या अलवर बहुत फबेंगे। इनका नीचे उत्तर भारत में अच्छा खासा बाज़ार हो सकता है। इन किन्नौरी पट्टियों में किन्नर-किन्नरियों के हाथ की गन्ध और गरमाहट भी होगी। यह किसे न प्रिय लगेगी?

अब तो यह किन्नौरी पट्टी भी किन्नौर के बाज़ारों में कोई खास दिखती नहीं है। नीचे की चीज़ों के साथ ढुलाई का भारी खर्च जुड़ जाता है। इस ढुलाई के मारे बैंगन भी वहाँ 6 रुपये किलो मिलता है। इस तरह पहाड़ों का धन ऊपर से नीचे बहा जाता है। जब तक ऊपर से भी नीचे चीज़ें न बिकें तब तक धन का यह प्रवाह नहीं रुक सकता। पहाड़ों के धन के साथ इसका यौवन भी नीचे की ओर ढरक रहा है। किन्नौर के स्वस्थ और सुंदर लड़के-लड़कियाँ अब किन्नौर में रहना पसंद नहीं कर रहे हैं। नीचे जाना चाहते हैं।

शिमला, चंडीगढ़, दिल्ली उन्हें खींचते हैं। हिमालय की शान्ति और शीतलता उन्हें रास नहीं आ रही है। वे अशांति की ओर जाना चाहते हैं। क्योंकि वहाँ हरकत है, काम-धंधा है, ज़िन्दगी है।

किन्नौर में कमाई और ज़िंदगी को लौटाने का एक ही रास्ता है, भारत-तिब्बत व्यापार का फिर से खुलना। इससे ही वह पुरानी सड़क भी मंज सकती है और इनकी अर्थव्यवस्था में भी वह खोयी हुई चमक वापिस आ सकती है। आंतरिक आवागमन के लिए राष्ट्रीय राजमार्ग के ऊपर बसे गाँवों तक अनेक लिंक-रोड बन सकते हैं। यह ज़रूरी है, किन्तु काफी नहीं। मैंने जब किन्नौर से लौटकर शिमला और दिल्ली में भारत-तिब्बत व्यापार को चालू करने की ज़रूरत के बारे में चर्चा की तो प्रायः सयाने लोगों ने यही कहा कि यह तो असंभव है। फिर भी मैं यह मानता हूँ कि यह अब असंभव नहीं है। यह संभावना के क्षेत्र में आ गया है। दोनों देशों की सरकारों की कोशिश ऐसी दिखती है कि दोनों देशों के बीच सम्बंध सहज हो सकते हैं। जब यह सम्बंध सामान्य हो रहे हैं तो दोनों देशों के बीच परस्पर लाभप्रद व्यापार की संभावना है।

भारत-चीन के पुराने व्यापार के अनुभव का निचोड़ यह है कि जैसे-जैसे भारत-चीन के सम्बंध सुधरते हैं वैसे-वैसे भारत-चीन के बीच व्यापार बढ़ता है। जैसे-जैसे यह सम्बंध बिगड़ते हैं, वैसे-वैसे यह व्यापार सिकुड़ता है। असल में तो विदेशी व्यापार और विदेश नीति साथ-साथ चलते हैं। 1960 के बाद भारत-चीन के सम्बंधों में बिगाड़ के बाद व्यापार सिकुड़ने लगा। 1962 के चीनी आक्रमण के बाद यह बिल्कुल बंद हो गया।

27 अगस्त, 1976 को लोकसभा में एक प्रश्न के लिखित उत्तर में बताया गया कि चीन से व्यापार सहित सभी पक्षों में सहज सम्बंध कायम करने की संभावनाओं की तलाश की जा रही है। सदन को बताया गया कि 1962-63 तक व्यापार बहुत कम रह गया था। उसके बाद व्यापार ठप्प है। 1957 में आयात 4.86 करोड़ रुपये का हुआ और निर्यात 3.69 करोड़ रुपये का। 1962-63 में यह क्रमशः 89 लाख रुपये और 14 लाख रुपये का रह गया था। यहाँ एक तथ्य का विशेष महत्त्व है। 29 अप्रैल, 1954 को भारत और चीन के बीच तिब्बत से व्यापार और यात्रा के बारे में एक आठ वर्ष का समझौता हुआ। इस समझौते के अनुसार तय था कि—(1) चीन सरकार नयी दिल्ली, कलकत्ता और कलिङ्पोंङ में व्यापार की एजेन्सियाँ खोलेगी और इसी प्रकार भारत सरकार यातुङ, ग्यांत्से और गर्तोक के तिब्बती शहरों में

अपनी एजेन्सियाँ कायम करेगी, (2) दोनों देशों के बाज़ार निर्धारित कर दिये गये और (3) वे छह रास्ते भी तय कर दिये गये जिनसे दोनों देशों के व्यापारी यात्रा करेंगे। यह समझौता आठ वर्ष बाद फिर से नया किया जा सकता था। 1954 में ही भारत और चीन के बीच दो साल का व्यापारिक करार और भी हुआ। इसमें भारत और चीन के बीच आयात-निर्यात की जानेवाली चीज़ों की सूची भी तय की गयी।

इन समझौतों की एक खास बात यह है कि भारत और तिब्बत के बीच 1954 में भी अलग से समझौता हुआ। तब तक भारत सरकार ने तिब्बत को चीन का अंग मान लिया था। चीन में विदेशी व्यापार पूरी तरह चीन की केन्द्रीय सरकार के अधीन है। इसलिए तब भी चीन का पक्ष था कि तिब्बत-भारत का व्यापार उन्हीं नियमों के अंतर्गत हो, जो भारत और चीन के व्यापार पर लागू होते थे। भारत सरकार का यह पक्ष था कि तिब्बत की समस्याएँ विशेष प्रकार की हैं, इसलिए भारत-तिब्बत व्यापार के बारे में अलग से समझौता हो। अन्ततः इस बात पर सहमति हुई कि भारत और तिब्बत के बीच सिर्फ परम्परागत व्यापार हो। इससे दोनों ओर के बहुत से छोटे-मोटे व्यापारी इधर-उधर जा-आ सकेंगे और जीविका कमा सकेंगे।

जो भी हो, भारत-चीन व्यापार अल्प मात्रा में शुरू हो चुका है, भारत-तिब्बत व्यापार नहीं। भारत-चीन का व्यापार किस हद तक दोनों देशों के हित में है यह विचारणीय हो सकता है। किन्तु भारत-चीन समझौते की भांति भारत-तिब्बत के बीच अलग से व्यापारिक समझौता चीन के साथ किया जा सकता है। यह समझौता उन चीज़ों के बारे में हो सकता है जिनका दोनों देशों के बीच परम्परागत रूप से व्यापार होता रहा है। यह व्यापार मध्य हिमालय में बसे लोगों के लिए लद्दाख से लेकर अरुणाचल तक पुरानी जीविका और ज़िन्दगी को पुनजीर्वित करेगा। यह भारत और तिब्बत दोनों के योग-क्षेम को वहन करेगा, इसमें तनिक भी संदेह नहीं। वैसे हर चीज़ की तरह, भारत-तिब्बत व्यापार भी दोरुखा है। इसका दूसरा पक्ष यह है कि चीन के अन्तर्गत अगर भारत-तिब्बत व्यापार फिर से शुरू हो तो इसका तिब्बत की स्वतंत्रता के प्रश्न पर क्या प्रभाव होगा ? क्या यह तिब्बत पर चीन के प्रभुत्व को पुष्ट नहीं करेगा ? क्या इसका यह अर्थ नहीं होगा कि जैसे सब सामान्य हो गया, कुछ हुआ ही नहीं। रुटीन ढंग से अब तो व्यापार भी हो रहा है, फिर, व्यापार में चीज़ों और लोगों का आना-जाना शुरू होगा। उसका लोगों के मन-मस्तिष्क पर क्या असर होगा, यह कोई कम महत्त्व का नहीं है।

भेंटवार्ता-एक

टापरी : 3 मील उरनी, 11 मील रोगी, 4 मील कल्पा (बड़ा), 6 मील पडें, 8 मील रारङ, 3 मील अक्पा, 4 मील जंगी।

जंगी : 11 मील कोरला (लाबरङ), कानम 9 मील श्यासो खड्ड पहले रास्ता मील में है।

श्यासो से पूह 1 दिन लगता था। रास्ता खराब है। ऊपर चढ़ना, नीचे उतरना पड़ता है।

अब बड़ा रोड से श्यासो से पूह, पूह से नमग्या 6 मील, अभी भी वही है। नमग्या से शिपकी ला 3 मील। पहले 3 मील से ज़्यादा होगा।

3 मील - 3½ मील : 5 किलोमीटर।

व्यापार से गुज़ारा था। बकरी के साथ जाता था।

तिब्बत से निमक लाता था। नारकण्डा-शिमला तक ले जाता था।

ऊन ले आता था। पश्मीना ले आता था। बकरी ले आता था। घोड़ा वहाँ से खरीद कर नीचे बेचते थे। यहाँ से चावल, गुड़, मिश्री, खाँड।

नीचे से रामपुर, शिमला, छावनी से ले आते थे।

बैशाख-चैत महीने (अप्रैल समझो) ऊपर आते थे। अगस्त महीने में ऊपर गर्तोक पहुँचते थे। व्यापार करने लगभग 1 महीने वहाँ बैठते थे। पूरा महीने से ऊपर लगता था। रामपुर में बैठते थे। अगरबत्ती (तिब्बती-पोई =गंध) का सब सामान देश से ले जाते थे।

सुमदो .. तीन नदियों का संगम है –

1. पिती
2. छुरिक (तिब्बती इलाके से आनेवाली नदी)
3. ग्यु .. छोटी नदी है।

तीन नदियाँ मिलती हैं। संगम है। इसलिए सुमदो।

हिन्दूवालों ने समदु बोला।

नमग्या में पिती दरिया आती है। मानसरोवर से आनेवाला सतलुज। सात दरिया मिल कर सतलुज बोलते हैं। ना मालूम कौन सात दरिया ?

शिपकीवालों को 'इंडिया' का गुलाम होने का बड़ा शौक था। गाँववाला मीटिंग किया। 'इंडिया' का बड़ा अफसर गया। बोला कि तुम लोग मीटिंग करो। एक भाग गया। फिर वह तिब्बत (चीन) में रह गया।

(गेशे पलदेन सेडें से छोस् खोर लिङ, ब्रेलिंग में भेंटवार्ता से प्राप्त/3-7-87)

भेंटवार्ता-दो

टापरी-उरनी–6 मील, उरनी-रोगी–15 मील, रोगी-कल्पा–3 मील, कल्पा-पडे–6 (पहले का मील), पडे-रारंग–8 मील, रारंग-जंगी–7 मील, जंगी-कोरला-स्पीलो-लबरङ (में किला)-कानम–15 मील; कानम-श्यासो खड्ड-लगभग 7-8 मील; श्यासो खड्ड-पूह–7 मील।

अभी श्यासो से आगे जाने के बाद रोड बदल गया है।

टापरी से ऊपर चढ़ता है। (8 मील) उरनी-मीरू होते हुए रोगी-कल्पा। अस्पताल से कैंची मोड़ हो कर पडे नाला पार कर पडे। पहले पुल परली तरफ था। बस रास्ते से अलग रास्ता। यहाँ से नीचे होकर आठ मील रारङ-पूह-खाबो-नमग्या। खाबो नमग्या गाँव एक ही है। खाबो उरली तरफ है, नमग्या परली तरफ है। नमग्या से शिपकी-ला। नमग्या से शिपकी-ला– 8-9 मील। पहले नमग्या से हुफ्सङ खड् आता है।

पहले रामपुर-बुशहर राज्य से तिब्बत को तोहफा जाता था। उधर से भी रामपुर को आता था। जब उनके अफसर इधर टूर करते थे तो स्टेट की ओर से उनका प्रबन्ध होता था। डाक-बंगलों वगैरह का इंतजाम था।

(श्री जयनन्द नेगी स्टेट के पुलिस महकमे में थे। एस. पी. तक होते थे। इंतज़ामिया मामला था। जयनन्द नेगी शिपकी-ला तक गये। चांगो के आगे सुंगरा तक। तब लाहुल-स्पीति पंजाब के अन्तर्गत था। किन्नौर रामपुर बुशहर के।)

(चाय आती है। चाँदी का प्याला है। यहीं के लोहार (डोमंग) बनाते हैं। यह प्याला लिप्पा के डोमंग ने बनाया है। इसमें नीचे से ऊपर तक सुन्दर नक्काशी है)।

व्यापार बहुत था। एक-एक व्यापारी एक-एक हज़ार खड्डू लेकर आता था। तिब्बत से : ऊन, पशम, नमक, सुहागा, खड्डू (मेढ़ा), बकरे। इधर से उन दिनों अनाज (जौ, गंदम, ओगल, फाफरा), गुड़, मिश्री, बर्तन-अमृतसर और नीचे से लाते थे, तिङ, शुलिग (पत्थर के गहने धागे में पिरो कर लगाती हैं – पूह, चांगों में औरतें, अच्छे-अच्छे घरों में हैं, सिर से लेकर सारे जिस्म में लगाते हैं)। दोछ्द् चाँदी का घोड़े के खुर जैसा बनाते हैं। घर में रख लेते हैं।

तिब्बत के व्यापारी कम आते थे। वह तो वहीं रहते थे। उनको तो जो चीज़ चाहिए, वह वहीं पहुँचती थी। तिब्बत से गरीब लोग आते थे। डमरू लेकर घर-घर माँगते थे। यहाँ देते थे। इनका तो गुज़ारा वह था। घर-घर आते थे वो। सर्दियों में आते थे।

छोटे-छोटे लामे आते थे। बड़े लामे नहीं। इधर से भी जाते थे। लेकिन बहुत कम। पढ़ने जाते थे। वहाँ जानेवाले कहते हैं कि वहाँ दलाईलामा का दर्शन कहाँ मिलता था। खिड़की से बस झंडा निकलता था। वही दलाईलामा का दर्शन था।

किन्नर-कैलास की परिक्रमा शुरू भादों में आरम्भ होती थी। तिथि-ताथी नहीं थी। अगस्त के अंत तक 28-29 तक चले जाते हैं लोग। पुराने ज़माने में पवारी से पुरबणी, पुरबणी से रिब्बा होते हुए ठडे, ठडे से कुनो होते हुए चारङ, चारङ से होते हुए दूसरे दिन लालन्ति कंडे पहुँचते थे। वहाँ बरफ है। राजा बुशहर ने वहाँ एक मकान बनाया है। रात को वहाँ बैठते थे। उसी लालन्ति की खड्ड में ठंडा पानी टपकता था। वहाँ पटरे रखते थे। पटरे लगाकर पार करते थे। पार कर पटरे अलग रख देते थे। यह पानी लालन्ति के पहले था। पानी नीचे पड़ गया। काला वरफ-पत्थर भी है, पानी भी है, मिट्टी भी है। सुबह हलुवा वगैरह बनाते हैं, ऊपर जोत पार करने की पूजा करने के लिए। उसी दिन जोत पार करेंगे? उस रात परली तरफ छितकुल पहुँचेंगे। छितकुल की देवी है। उसे उठाकर पूजन करते हैं। वहाँ से सांगला। उन दिनों पैदल का ही रास्ता था। सांगला होते हुए अपने-अपने गाँव चले जाते हैं।

ज़्यादा तो देवता है। फिर लामा है। पुरोहित की जगह लामा है। मरना-जीना लामा से करते हैं। ब्राह्मण नहीं है। सराहन से ऊपर ब्राह्मण नहीं है।

पुरानी हिन्दुस्तान-तिब्बत रोड

पहले रामपुर से गोरा, गोरा से सराहन, सराहन से चौरा, चौरा से तरंडा, वहाँ से पौंडा, पौंडा से निचार, निचार से वांग्तु। पहले यह नेशनल हाइवे कहाँ था? नीचे की सड़क नहीं थी। वांग्तु से टापरी। टापरी से उरनी, रोगी-कल्पा।

रामपुर के पहले का रास्ता तो पता नहीं। शायद कालका-शिमला-रामपुर, यह रोड था।

अंग्रेज़ों के पहले शिमला कहाँ ? और रोड कहाँ ? खच्चर का रास्ता रहा होगा।

अगर नयी सड़क पुरानी सड़क से बनाते तो एक बार खर्चा होता। सब गाँव से होकर जाते। खदरा ढाँग तो बच जाता। साल-साल का खर्चा तो न होता। नीचे की बोली में चट्टान बोलते हैं। यहाँ डोकङ बोलते हैं। डोकङ से ढाँग हो गया। जैसे श्रीमती डाँग। खदरा ढाँग जैसा बालू है, वैसी मिट्टी है। परला साइड स्किब्बा हैं, परला साइड में कभी पुल टूटेगा। कभी रोड टूटेगा।

खदरा ढाँग तो आता रहेगा। रेतीला है। हवा भी चलता है तो आता है। गवर्नमैंट को कभी न कभी यह ऊपर रास्ता लेना होगा। एक बार खर्चा है। फिर नहीं। वह खतरा नहीं। नयी सड़क पर खदरा ढाँग और मलिङ-नाला दो बड़े खतरे हैं। वह पहले ही धँसा हुआ था।

हिन्दुस्तान-तिब्बत रोड भी अब का रास्ता है। उसके भी पहले तिब्बत का रास्ता है : पडे के कंडे के रास्ते से कशङ खड्ड को पुल से लाँघ कर रारङ कंडा। फिर रारङ कंडा को पार कर लिप्पा-असरङ के कंडे। फिर वहाँ से लिप्पा गाँव में उतरता था वह रास्ता। फिर लिप्पा से चढ़ कर लबरङ गाँव के सिर पर जो कंडा है, उस कंडे से फिर कानम का कंडा लाँघ कर रोपा वैली में ग्याबुङ गाँव पहुँचता था। वहाँ आबादी है। गाँव है। वहाँ से नीचे को आना पड़ता है सुन्नम। फिर सुन्नम-नाले से हांगों जाता था। बड़ा भारी जोत लाँघना पड़ता था। बड़ा मुसीबत है, तिब्बत/हांगो से फिर लियो को उतरता है। लियो से ताराकोचे चढ़ना पड़ता था। नीचे से ऊपर, फिर ऊपर से नीचे, पूरा पहाड़ चढ़ना-उतरना पड़ता था। ताराकोचे से होते हुए श्यालखर, श्यालखर में किला है। उस किला में बड़ा भारी बंदूक था। बारूद था। श्यालखर से चंगो। चंगो के साथ-साथ परली साइड स्पीति। सुमदो सुम-तीन, दो-संगम = तीनों का संगम। एक ओर स्पीति, एक ओर बुशहर, बीच में तिब्बत। इन तीन का संगम था सुमदो। उस समय सुमदो होकर तिब्बत जाते थे। जब हिन्दुस्तान-तिब्बत रोड नहीं था तो इधर के व्यापारी इस रास्ते से जाते थे। रोड नहीं था तो पगडंडी का रास्ता था।

रास्ता बदलता है। समय के साथ। पहले पगडंडी, फिर हिन्दुस्तान-तिब्बत रोड, फिर नेशनल हाई-वे।

(श्री जयनन्द नेगी, ग्राम-पोस्ट पडे, ज़िला किन्नौर, हि.प्र. से भेंट वार्ता से प्राप्त, पडी, 4 जुलाई, 1987)

भेंटवार्ता-तीन

हिन्दुस्तान-तिब्बत व्यापार पहले नहीं था। रामपुर-बुशहर स्टेट के राजा की आज से चौदहवीं पुश्त में राजा केर सिंह के ज़माने से यह शुरू हुआ। ऐसा हुआ कि लद्दाख के राजा ने तिब्बत पर चढ़ाई कर दी, तो रामपुर दूर नहीं था। इसे भी खतरा था। इसलिए बुशहर स्टेट के राजा केर सिंह और तिब्बत के गल्दन छेवङ् में समझौता हुआ, लद्दाख के राजा के खिलाफ। एक घोड़ा छोड़ा गया। शकुन था कि अगर घोड़ा चला गया तो जीत, अगर लौट आया तो हार होगी। घोड़ा लौट आया। राजा ने कहा कि लड़ाई से कोई

फायदा नहीं। लद्दाख के राजा को सोना वगैरह देकर समझौता कर लिया। उसी समय रामपुर-बुशहर व तिब्बत का समझौता हुआ। 14 पुश्त पहले रामपुर बुशहर के राजा केर सिंह से पहले तिब्बत में व्यापार नहीं था।

इस समझौते के अंतर्गत व्यापार शुरू हुआ। समझौते में कहा गया कि – 'जब तक गङरी (कैलास) के शिखर से बरफ न पिघल जाए, जब तक मानसरोवर का जल सूख न जाए, काला कौआ सफेद न हो जाए तब तक यह समझौता लागू रहे।'

राज्य के विलय तक यह समझौता लागू रहा। तिब्बत के अफसर स्टेट के गेस्ट होते थे। तोहफे लाते थे। रामपुर से भी तोहफा भेजते थे। 1905 में लड़ाई के बाद तिब्बत ब्रिटिश प्रभुत्व में आया। देवीदास कोटगढ़ का, ब्रिटिश एजेंट के तौर पर गर्तोक जाता था। तिब्बत में मानते थे कि यूरोपियन जहाँ आता है, वहाँ लड़ाई लाता है। इसलिए तिब्बती यूरोपियन लोगों को घुसने नहीं देते थे।

यहाँ से अनाज-चावल, जौ, ओगला, फाफरा, अरक (शराब), कपड़े ले जाते। बड़ा व्यापार था। बड़ा सिलसिला था।

तिब्बत से ऊन, पशम, सुहागा, नमक, खड्डू, बकरे, घोड़े लाते। तिब्बत में सोना नदी के रेत में होता है।

कामरू के देवता का मथुरा-वृंदावन से आना समझ में नहीं आता। कोई आदिम देवता होगा। उस पर से वैष्णव किस्सा गढ़ा होगा। जब राजा वैष्णव हुआ होगा। कहीं वह बौद्ध होता है। जो हो, देवता पहले मथुरा-वृंदावन से बदरीनाथ होकर यहाँ आया। ग्रोक्च (माली) पर देवता आता है तो ऐसा व्याख्यान करता है। अब जो हो, सिलसिला सब जगह यही है। कोई न कोई किताब बनाते हैं। मुख बनाते हैं।

कामरू का यह किला तो हाल का है, राजा पद्मसिंह ने बनाया। काफी खर्च करके बनाया। बुनियाद का किसी को पता नहीं देवते का। राजा के रहने की जगह है।

राजतिलक यहीं होता था। जब तक यहाँ राजतिलक न हो तो राजा नहीं मानते थे।

तिब्बत के लोगों को नीचा मानते थे। छूत की बीमारी अपने देश में है। स्टेट में भी थी। तो शिपकी-ला के पहले पानी आता है, उसमें नहा कर आते हैं। तब शुद्ध होते हैं। पता नहीं किस ज़माने का ढोंग था। आदमी तो एक है।

तिब्बत से व्यापार हो, यह बहुत बातों पर निर्भर है। भारत-चीन सम्बंध, सीमा समझौता, देश की सुरक्षा, विदेश नीति वगैरह के साथ यह जुड़ा हुआ है, फिर भी अगर किसी सूरत से भारत-तिब्बत व्यापार खुले तो कैसा ?

व्यापार खुलने से फायदा ज़रूर है। हमारा तो गुज़ारा इस पर था। हमको तो इसके बंद होने से बहुत नुकसान है। हमारी फसल वहाँ बिकेगी। वहाँ तो कुछ है नहीं। चङ थङ उत्तरी मैदान या पठार है। मुश्किल यह है कि तिब्बत के किये हुए को चीनी मानते ही नहीं।

देवते का रिश्ता कैसा ? जैसे कि शादी-ब्याह करते हैं, वैसे ही देवतों की भी शादी-ब्याह की कल्पना करते हैं। जैसे छितकुल की देवी को कामरू के देवता की पत्नी कहते हैं, वगैरह। यह देवते में रिश्ता कैसा ? जो हो, देवते का भी आपस में रिश्ता होता है। सांगला के नाग देवता का मामा कामरू का देवता होता है।

महाभारत में ऋषि हुआ। नाम भूल गया। शायद बर्बरीक नाम था। उसकी इच्छा थी कि वह महाभारत की लड़ाई देखे। उसका सिर काट कर आकाश में टाँग दिया गया। वह वहीं से पूरा महाभारत देखता रहता है। उसी सिलसिले में यह देवते हैं। इनका जिस्म नहीं होता। सिर्फ मुख होता है, आँख तो होती है। धड़ नहीं होता।

सिर्फ अन्ध विश्वास नहीं है देवता। कुछ न कुछ करामात है। तभी तो बाप-दादा के ज़माने से पूजते हैं।

कोठी की देवी को बाणासुर की लड़की माना जाता है।

भाबा का देवता महिसुर महादेव।

देवते के बारे में लिखित नहीं मिलता।

तिब्बत से लामे भी बहुत आते थे। काफी जाननेवाले आये। यमरङ-ला से होकर यहाँ के व्यापार का रास्ता था।

बदरीनाथ से जाते हुए थोलिङ मठ है। गये तो नहीं, जानते हैं। हिन्दुस्तान से भी थोलिङ मठ का रिश्ता था। यहाँ से तीर्थयात्री भी जाते थे। वहाँ इनकी खातिर करते थे। थोलिङ मठ से यहाँ आते थे।

बुद्ध मज़हब को हम मानते हैं। अलग नहीं मानते। यहीं से तो गया हुआ है। जैसे वे भी हिन्दू को मानते हैं।

रिवालसर को बड़ा मानते थे। कई अरसे तक साष्टांग करते वहाँ जाते हैं। पश्चिमी तिब्बत में बुशहर के राजा को बड़ा मानते थे। वहाँ केर सिंह नामी राजा है। खुनु ग्यल्बो-खुनु का राजा कहलाता है। ऊपरवालों को हम मेहमान

मानते थे। अब चीन ने क्या रखना है?

तिब्बत के साथ समझौता कोई नहीं मानता। जब तक तिब्बत था, हमारा कोई झगड़ा था ही नहीं।

मेरे तो पिता व्यापारी थे। तिब्बत जाते थे। मंडियों में जाते थे। मंडियाँ कायम भी करते थे। दोमगरा (?) मंडी तो उनके पिता ने कायम किया। वो भी व्यापार करने गाँव-गाँव आते। सब सिलसिला ही बदल गया। कुछ नहीं रहा। ज़माना बदलता रहता है। हमेशा तो रहता नहीं।

नयी पढ़ाई और मज़हब

मज़हब की पाबंदी तो है ही नहीं। अब तो ख़ब्त पर चलते हैं। हम तो बहुत मानते हैं। कर्नल फ्रेज़र की किताब पढ़ी होगी। सचमुच वैसा था। बड़े सच्चे थे। चोरी नहीं थी। अब तो नीचे से कई ख्यालात आ गये हैं। सीख गए हैं लोग।

सत्संगी लोग भी यहाँ हो रहे हैं। हिन्दुस्तान में तो हज़ारों मज़हब हैं। कहीं मजबूती तो है नहीं।

दो-दो महीना लगता था। ल्हासा तक पहुँचते थे। तीर्थ भी करते थे। वह सिलसिला तो बन्द हो गया। मज़हब तो है। अपना ही मानते हैं। दूसरा नहीं मानते।

पहले हिन्दुस्तान-तिब्बत व्यापार में बहुत से लोग लगे हुए थे। अब वह व्यापार बंद है। तो वे लोग अब क्या करते हैं?

खेती-बारी करते हैं। पहले भी किसान ही जाते थे। जब वह सिलसिला नहीं रहा तो अपनी खेती-बारी फिर करने लगे।

तिब्बत में योग का अच्छा प्रचार है। हमारे लोग जाते थे तो सीख कर आते थे। अच्छे लोग हुए। नेगी लामा (खुनु लामा) तो बड़े भारी विद्वान हुए।

किन्नौर से कई छोकरे जाते थे। पाँच-पाँच छह-छह साल, आठ-दस साल रह कर आते थे। कुछ न कुछ सीख कर आते थे। लिप्पावाला जंत्री भी बनाता था। उसका प्रचार था। पेंटर भी वहाँ से सीखकर आते थे।

देवते का रिश्ता हम बनाते हैं। आदमी बनाता है।

पहले तो नायब तहसीलदार थे। फिर तहसीलदार हुए। पूरा किन्नौर उनके जिम्मे था।

पुरानी हिन्दुस्तान-तिब्बत रोड हमारे सामने बनी। मैंने देखा है उसे बनते। गाँववालों की ड्यूटी थी। रख-रखाव गाँव के लोग करते थे। अब तो सब सरकार पर छोड़ दिया। तहसीलदार साहब अपने ज़माने में पैदल टूर करते

थे। गाँव-गाँव जाते थे। घोड़े पर भी नहीं, पैदल। अपनी टाँगों का ही भरोसा था। वही घोड़ा था।

पहले बिल्कुल पगडंडियाँ थीं। पहले जोत पर चढ़ते थे फिर उतरते थे। बड़ा भारी मुश्किल था। पुराना रास्ता था : रामपुर से पगडंडी होकर गौरा-सराहन-चौरा-तिरंडा-निचार-वांग्तु होकर नीचे आना पड़ता था। फिर टापरी से ऊपर चढ़ना पड़ता था--उर्नी-रोगी-चिनी-पडे-रारङ-जडे-कानम-श्यासो खड्-खाब और नमग्या से शिपकी-ला पारकर तिब्बत। पहले तो अलग-अलग रास्ते थे। पगडंडियों से चलते थे। हर जगह घोड़ा नहीं जाता था। इन टाँगों को ही घोड़ा बनाते थे। बड़ा भारी मुश्किल है।

(दुभाषिया या मध्यस्थ का काम ज़्यादा करके सुश्री विजय नेगी (पुत्री) ने किया। जब वह खाने का इंतज़ाम करने गयी तो उनके जीजा श्री शिवभगत नेगी ने किया। श्री बलदेव सिंह अत्री तहसीलदार, सांग्ला का बराबर साथ रहा। साथ-साथ आना-जाना, खाना-पीना हुआ।

वार्ता के बाद रात का खाना वहीं हुआ। सांगला घाटी में पहली बार सब्जी मिली। अखरोट-पुदीना की चटनी तो पहली बार खायी। विजय नेगी ने बड़े प्रेम से खिलाया। रोटी, दाल, चावल, सब्जी, चटनी। विजय नेगी पेरिस महोत्सव, 1986 के सिलसिले में यूरोप के 6 देशों में हो आयी हैं।)

(श्री गोवर्धन सिंह नेगी (97 वर्ष) ग्राम-पोस्ट सांगला, ज़िला किन्नौर से भेंटवार्ता से प्राप्त, विश्राम गृह सांगला, ज़िला किन्नौर, 14.07.87/रात्रि)

किन्नौर यात्रा विवरण

4–7–87 पिओ से पाँगी (जीप से) रात्रि विश्राम-पाँगी।
5–7–87 पाँगी से रारंग (घोड़े से) रात्रि विश्राम-रारंग।
6–7–87 रारंग से जंगी (घोड़े से) रात्रि विश्राम-जंगी।
7–7–87 जंगी से कानम (घोड़े से) रात्रि विश्राम-कानम।
8–7–87 कानम में ही रहे, रात्रि विश्राम कानम।
9–7–87 कानम से नमग्या (जीप से) रात्रि विश्राम-नमग्या।
10–7–87 नमग्या से सुन्नम, रोपा, रात्रि विश्राम-रोपा।
11–7–87 रोपा-मूरंग-रिब्बा-पिओ, (जीप से) रात्रि विश्राम-पिओ
12–7–87 पीओ से सांगला (जीप से), रात्रि विश्राम-सांगला।
13–7–87 सांगला से पिओ (जीप से) रात्रि विश्राम पिओ।

सोमसी : जून-सितम्बर, 1995 अंक से

किन्नौर की वादियों में सतलुज

विद्यासागर नेगी

ऋग्वेद में वर्णित पवित्र सरिता शुतुद्रि[1] ही वर्तमान सतलुज है। अविभाजित पंजाब के नामकरण में जिन पंच-आपों यानि पाँच नदियों का योगदान रहा है, उनमें एक सतलुज भी है। सतलुज के अतिरिक्त उक्त क्षेत्र के नामकरण में जिन चार नदियों का योगदान है, वर्तमान में वे ब्यास, रावी, चनाब तथा जेहलम के नाम से जानी जाती हैं। ऋग्वेद में वर्तमान रावी=परूष्णी[2], चनाब=असिक्नी[3], व्यास=विपाट्[4] (विपाशा) और जेहलम=वितस्ता[5] के नाम से हैं। उक्त पाँचों के समूह को पंचनद भी कहा जाता था। इन्हीं पंचनदों द्वारा सिंचित क्षेत्र ही अविभाजित पंजाब है। ये पाँच नदियाँ मानो पंच स्वसा यानि पाँच बहिनें हैं। इन पाँच बहिनों के साथ जब सरस्वती[6] (अब अदृश्य) और सिन्धु[7] नाम की दो और बहिनें आ जुड़ती हैं तो ये सप्त-स्वसा हो जाती हैं और इनका सामूहिक नाम सप्तसिन्धु हो जाता है। इनका सेचन क्षेत्र भी सप्तसिन्धु कहलाता है। यह वही सप्तसिन्धु क्षेत्र है, जिसमें पहले-पहल पुरू, यदु, तुर्वश, द्रुहयु, अनु—इन पाँच प्रमुख आर्य जनों (कबीलों) ने प्रवेश कर इसे अपना विचरण क्षेत्र बनाया था।

रावी का एक और पुराना नाम इरावती[8] भी है, या यूँ कहिये पुराना इरावती नाम-शब्द ही घिस-घिस कर वर्तमान रावी हो गया है। लाहुल के क्षेत्र विशेष में चनाब आज भी चन्द्रभागा के नाम से जानी जाती है। चन्द्रभागा, चन्द्र और भागा नाम की दो नदियों का संगम होने के बाद का नाम है। इन दोनों नदियों का मूल उद्गम स्रोत आठ कि.मी. लम्बा हिमाच्छादित बारालाचा दर्रा है। इसके उत्तर-पूर्वी पाद से चन्द्र शुरू होती है और दक्षिणी-पश्चिमी पाद से भागा निकलती है। भागा का जल नदी का रूप धारण करने से पहले

पाद टिप्पणियाँ 1 से 8 : पृष्ठ 78-79 पर देखें

सूरजताल में जाता है, वहाँ से नदी शुरू होती है। अपने उद्गम स्थल में ये दोनों अपनी अलग-अलग दिशा में बहती हुई, केलंग के निकट तांदी में संगम का निर्माण करतीं हैं और वहाँ से आगे एक बनकर पट्टन उपत्यका में चन्द्रभागा के नाम से बहती है। चम्बा में प्रवेश करते ही यह चन्द्रभागा से चनाब हो जाती है और अन्त तक इसी नाम से जानी जाती है। व्यास ऋषि के साथ जुड़कर जो नदी आज व्यास के नाम से जानी जाती है, वह निरुक्त के अनुसार पहले यानी पूर्व युगों में उरुंजिरा और आर्जीकीया के नाम से जानी जाती थी।

सतलुज का शुतुद्रि के अतिरिक्त एक और पुराना नाम 'शतद्रु' भी है। यह हिमालय से निकल कर बहती है, इसलिए यह हैमवती भी है। जहाँ तक इसे शतद्रु कहने की बात है, इस सम्बंध में महाभारत के चैत्ररथपर्व में वशिष्ठ मुनि की एक कथा आती है, जिसमें शक्ति मुनि तथा एक ब्राह्मण के शाप के प्रभाव से राजा कल्माषपाद नरभक्षी हो गया था और उसने वशिष्ठ के सभी पुत्रों को मार कर खा लिया था। इस शोक के कारण वशिष्ठ ने पहले अपने को पाश में बाँधकर तत्कालीन आर्जीकीया नदी में डूब मरने के लिए छलांग लगाई। नदी ने पाश तोड़कर उन्हें मुक्त कर किनारे लगाया, इसलिए ऋषि ने इसका नाम 'विपाशा' रख दिया था। उसके बाद वशिष्ठ ने शीघ्र बहनेवाली शुतुद्रि यानी आज की सतलुज में डूबकर आत्महत्या करनी चाही, लेकिन यह नदी भी सैंकड़ों धाराओं में इधर-उधर भाग चली, ताकि वशिष्ठ मुनि की हत्या से बच सके, इसलिए इसका नाम 'शतद्रु' यानी शतधारा हो गया।

महाभारत के निम्न पद्यों में इन घटनाओं के संदर्भ हैं –

अथ छित्त्वा नदी पाशांस्तस्यारिवलसूदन।
स्थलस्थं तमृषिं कृत्वा विपाशं समवासृजत्।।
उत्ततार ततः पाशैर्विमुक्तः स महानृषिः।
विपाशेति च नामास्या नद्याश्चक्रे महानृषिः।।

दृष्ट्वा स पुनरेवर्षिर्नदीं हैमवतीं तदा।
चण्डग्राहवतीं भीमां तस्याः स्रोतस्य पातयत।।
सा तमग्निसमं विप्रमनुचिन्त्य सरिद्वरा।
सतधा विद्रुता यस्माच्छतद्रुरिति विश्रुता।

–महाभारत, चैत्ररथ पर्व-अ.-77

उक्त दो नामों के अतिरिक्त सितलोदा (Sitloda) शतरुद्रा (Satrudra) आदि भी सतलुज के नाम बताये गये हैं। सतलुज को ग्रीक में हुपानिस या

हुफासिस (Hupanis or Huphasis) कहा जाता है। जब सिकन्दर महान भारत आया तो यही सतलुज उसकी विजय यात्रा की अंतिम सीमा बनी थी।

सरस्वती जो वर्तमान में अदृश्य है, उसे छोड़कर अन्य छह सरिता-बहिनें अरब सागर में मिलने से पहले परस्पर एक-दूसरे से मिल जाने के कारण, अंततः सिन्धु में ही एकलय हो जाती हैं और यही पाकिस्तान में कराची के निकट अरब सागर में मिलती है। इन नदियों के सिन्धु में मिलने के आकर्षण को ऋग्वेद में निम्न प्रकार से व्यक्त किया है–

अभि त्वा सिन्धो शिशुमिन्न मातरो वाश्रा अर्षन्ति पयसेव धेनवः।
राजेव युध्वा नयसि त्वमित् सिचौ यदा सामग्रं प्रवतामिनक्षसि।।

–हे सिन्धो! जैसे माताएँ अपने पुत्र के पास प्रेम से जाती हैं और नवप्रसूता दुग्धवती गायें अपने बछड़े के पास जातीं हैं, वैसे ही शब्द करती हुई अन्य नदियाँ तेरी ओर ही आती हैं। युद्धशील राजा के समान तू ही सेचन करनेवाली नदियों को लेकर जाती है। (ऋग्वेद, 10-75-4)

प्राकृतिक मिलन क्रम से व्यास सतलुज में, जेहलम चनाब में, चनाब रावी में, रावी सतलुज में और सतलुज सिन्धु में मिलती है। सिन्धु में मिलने तक सतलुज अपने उद्गम स्थल से नौ सौ मील की यात्रा तय करती है।

सतलुज का मूल उद्गम स्थल पश्चिमी तिब्बत में, समुद्र तल से 15,200 फुट की ऊँचाई पर, कैलास-मानसरोवर के पश्चिमी भाग में स्थित मानसरोवर का जुड़वाँ सरोवर राक्षस ताल या रावण ह्रद माना जाता है। इस सरोवर विशेष को राक्षस ताल या रावण ह्रद कहे जाने के सम्बंध में किम्वदंती है कि एक बार लंकापति रावण ने कैलास-पर्वत को अपने तपोबल से लंका ले जाने का निश्चय किया था, किन्तु शिवजी ने इसे अपने पैर के अंगूठे से दबाये रखा, जिससे रावण पसीना-पसीना हो गया। इसी के परिणाम स्वरूप यह ताल बना। कहते हैं, अन्त में शिवजी ने प्रसन्न होकर रावण से कहा, 'भविष्य में यह सरोवर (तुम्हारे साथ जुड़कर) राक्षस ताल कहलायेगा।' तभी से यह सरोवर 'राक्षस ताल' या 'रावण ह्रद' के नाम से जाना जाता है।

मानसरोवर की उत्पत्ति के सम्बंध में भी 'स्कन्द पुराण' तथा बौद्ध ग्रंथ 'विनयवस्तु' में कई कथाएँ हैं। किन्तु विस्तार भय से वे यहाँ नहीं दी जा रही हैं। मानसरोवर को तीर्थों में पवित्र तीर्थ और 51 शक्तिपीठों में एक माना जाता है। यह भी मान्यता है कि देवी सती की दायीं हथेली इसी सरोवर में जा गिरी थी।

भोट देशवासी कैलास पर्वत को गङ-रिनपोछे (हिमरत्न) गङस-कर-तिसे

(श्वेत हिम तिसे) अथवा तिसे-सेङ-दोङ-कर-मो कुइ-नेस (तिसे श्वेत सिंह मुखी देवी स्थल) कहते हैं और मानसरोवर को 'मफम-युछो' यानि अजित वैदुर्य सरोवर कहते हैं।

वास्तव में कैलास-मानसरोवर क्षेत्र हिन्दू, बोन, बौद्ध तथा जैन धर्मावलंबियों का पवित्रतम साझा तीर्थ स्थान है। ब्राह्मण परम्परानुसार यह क्षेत्र शिव-पार्वती का निवास स्थान है तो बौद्ध तन्त्र परम्परानुसार यह 'चक्रसम्वर-वज्रवराही' का अधिष्ठान है। विनय पिटक में भगवान बुद्ध द्वारा जीवक को अनेक जड़ी-बूटियाँ दिखाने के लिए हिमवान एवं गन्धमादन पर्वत पर ले जाने तथा उनके त्रायस्त्रिंश देव लोक में एक बार वर्षावास तथा अपनी माँ को अभिधर्म का उपदेश देते समय प्रतिदिन अनवतप्तह्रद में आकर स्नान करने तथा हिमवान पर्वतराज के चारों ओर 'चंक्रमण' करने का भी उल्लेख मिलता है। साथ ही भगवान बुद्ध द्वारा अनवतप्त नागराज को प्रवचन देने की बात भी बौद्ध साहित्य में मिलती है। कहते हैं, भगवान बुद्ध के समय सोलह स्थविरों में से आर्य अंगज आज भी अपने शिष्य तेरह सौ अर्हत् भिक्षुओं के साथ कैलास पर निवास करते हैं।

बोन परम्परा में यह कैलास-मानसरोवर उनके महान साधक नरो बोनछुङ् का साधना-स्थल है तो जैन परम्परा में यह उनके आदि तीर्थंकर ऋषभदेव का निर्वाण स्थान है।

मानसरोवर सतलुज का ही उद्गम स्थल नहीं है, प्रत्युत् गंगा, सिन्धु, ब्रह्मपुत्र आदि नदियों का भी यह उद्गम स्थल माना जाता है। भोट देशवासी सतलुज को 'लङछेन-खबब' (हस्तिमुखी), सिन्धु को 'सेंगे खबब' (सिंहमुखी) कहते हैं। इन में गंगा का उद्गम स्थल वर्तमान में गंगोत्री को माना जाता है, किन्तु इसका शास्त्रसम्मत मूल उद्गम स्थान मानसरोवर ही है।

सतलुज अपने मूल उद्गम स्थल से कैलास-पर्वत की दक्षिणी ढलान पर उत्तर-पश्चिम दिशा में बहती हुई भारत में समुद्र तल से 3050 मी. की ऊँचाई पर हिमाचल प्रदेश के शिप्की क्षेत्र में प्रवेश करती है। यहाँ पहुँचने तक यह पश्चिमी तिब्बती हिमालय में 450 कि.मी. की लम्बी यात्रा तय करती है।

शिप्की से यह जिस क्षेत्र में प्रवेश करती है, उसे किन्नौर कहा जाता है। यह उत्तरी अक्षांश में 31°05'50" तथा 32°05'15" के बीच और पूर्वी देशान्तर में 77°45'00" तथा 79°00'35" के मध्य स्थित है। इसका क्षेत्रफल 6401 वर्ग कि.मी. है। यह वही क्षेत्र है जो कभी शास्त्रों में, अर्द्धदेवयोनि के रूप में ख्यात किन्नर-गन्धर्वों का निवास क्षेत्र था। आज भले ही उनका क्षेत्र सिमटकर मात्र

वर्तमान किन्नौर जनपद रह गया है, किन्तु अतीत में पूरा हिमालय उनका निवास क्षेत्र था। इस बात की आंशिक गवाही आज भी ईसा पूर्व द्वितीय-तृतीय सदी में रचित बौद्ध पालि ग्रन्थ सुत्तपिटक के खुद्दक निकाय का निम्न पद दे रहा है–

चन्द्रभागा नदी तीरे अहोसिं किन्नरो तदा।

भोट देशवासी किन्नौर को 'खुनु' और यहाँ के निवासियों को 'खुनु-पा' कहते हैं। स्थानीय लोग इस क्षेत्र को कनोरिङ्/किनोरिङ् और अपने को कनोरेया/किनोरेया आदि कहते हैं। अतीत में यह क्षेत्र सात खूँदों (परगनों) तथा बीस गोरियों (गढ़ों) में विभक्त था। वर्तमान में प्रशासनिक सुविधा की दृष्टि से यह पूह, कल्पा, निचार–इन तीन उपमंडलों तथा निचार, साँगला, कल्पा, मूरंग, पूह–इन पाँच तहसीलों के साथ एक उपतहसील यङथङ में विभक्त है। सतलुज इस क्षेत्र में महा उपत्यका का निर्माण करती है। इसके दोनों तटों पर इस क्षेत्र के अधिकांश गाँव स्थित हैं। इस महा उपत्यका के अतिरिक्त हङरङ, गोनयुल, तैती, वङ-पो, तिदोङ्, बासपा, ग्यनथिङ् (नेसङ्), कशङ्, मलगुन, युला आदि भी इस क्षेत्र की, छोटी-छोटी उपत्यकाएँ हैं। वैसे तो उक्त सभी उपत्यकाएँ सुन्दर हैं, किन्तु सबसे सुन्दर बासपा मानी जाती है, जिसे साँगला उपत्यका भी कहते हैं। इस उपत्यका में स्थित कामरू गढ़ (मोने गोरी) के किसी ठाकुरस यानी ठाकुर (सम्भवतः छतर सिंह) ने अतीत में अपने प्रताप और बुद्धि कौशल से किन्नौर को एक राज्य के अन्तर्गत संगठित किया था। बाद में बुशहर रियासत की राजधानी भले ही सराहन व कल्याणपुर के बाद रामपुर बनी, किन्तु इसकी आदि राजधानी यहीं कामरू में थी। आज भी यहाँ 'मोने गोरङ्' के नाम से ख्यात कामरू का वह किला मूलरूप में विद्यमान है, जो अतीत में यहाँ के विभिन्न राजनैतिक घटनाक्रमों का साक्षी रहा है।

जब तक देश में राजतन्त्र कायम था, तब तक बुशहर के प्रत्येक नये राजा को रामपुर की राजगद्दी पर बैठने के बाद एक बार कामरू आकर विधिवत् यहाँ की राजगद्दी पर बैठना भी ज़रूरी होता था; तभी वह सम्पूर्ण रामपुर बुशहर का राजा कहलाया जाता था। अतीत में किन्नौर का 'पनाथो' नामक चारसाला उत्सव यहीं सम्पन्न होता था, जिसमें राजा का रामपुर से आकर सम्मिलित होना ज़रूरी होता था, अन्यथा वह इस क्षेत्र का राजा नहीं कहलाता था। इस बात की गवाही आज भी इस क्षेत्र में प्रचलित निम्न

कहावत देती है–

मोने पनाथो म बीमा, दो ली राज़ा म नर्श।

दिल्ली तोख़्तदेन म तोशिमा, दो ली बाछा म नर्श।।

–(जो राजा) मोने (कामरू) पनाथो उत्सव में शामिल नहीं होता है, वह राजा नहीं कहलायेगा और जो दिल्ली तख़्त पर नहीं बैठेगा, वह बादशाह नहीं कहलायेगा।

किन्नौर में वैसे तो छोटे-बड़े कई पर्वत हैं, किन्तु उनमें रिवोपुरग्युल और किन्नर-कैलास प्रसिद्ध हैं। इन पर्वतों के साथ अनेक धार्मिक तथा पौराणिक मान्यताएँ जुड़ी हैं। स्थानीय मान्यतानुसार 'रिवोपुरग्युल' को इसी नाम के स्थानीय रक्षक देवता का आस्थान माना जाता है। किन्नर-कैलास जिसे 'रल्दङ' या 'रल्डङ' भी कहते हैं, बौद्ध-बौद्धेतर दोनों परम्परा के लोगों के लिए एक पवित्र तीर्थ स्थान है। हिन्दू परम्परा में इसे शिव-शिवा का और बौद्ध परम्परा में चक्रसम्वर-वज्रवराही का आस्थान माना जाता है। इसलिए दोनों ही परम्परा के लोग इसकी परिक्रमा में विश्वास करते हैं। किन्नौर की आदिम मान्यतानुसार यह यमपुरी है, यहाँ पुण्यवानों की आत्माएँ वास करती हैं। विविध सांस्कृतिक परम्पराओं, मान्यताओं, धार्मिक विश्वासों तथा लोक भाषाओं वाले किन्नौर क्षेत्र में सतलुज को अत्यन्त संकरे रास्तों से गुज़रना पड़ता है। इसके यात्रा-पथ में कई स्थानों पर तो भयानक सीधे खड़े चट्टानी पहाड़ हैं।

कभी-कभार, जब यह अपना रौद्र रूप धारण करती है तो अपने तटों को तोड़-काटकर रास्ता चौड़ा करने का प्रयास करती है, किन्तु शांत होते ही पुनः अपने शांत स्वभाव पर चली आती है। जब यह रौद्र रूप में होती है, तभी यह स्थूलकाय दिखती है, अन्यथा यह सदैव तन्वंगी ही रहती है।

किन्नौर में सतलुज लङछेन खंबा (हस्तिमुखी) के साथ-साथ 'जङ-ती' (सुवर्णनदी), मुकसङ्, चङ-पो, सोमोद्रङ् के नाम से भी जानी जाती है। किन्नौर में सबसे बड़ी नदी यही सतलुज है, इसलिए यहाँ के लिए यही सोमोद्रङ् यानी समुद्र है। यहाँ के ज़्यादातर लोकगीतों में सतलुज का वर्णन जहाँ 'ज़ङ-ती' (सुवर्णनदी), 'ज़ङ-ती-कुलङ्' (सुवर्णनदी कूहल) के नाम से हुआ है, वहीं कुछ लोकगीतों में, इसका वर्णन 'लङछेन खंबा', कुछ में इसका वर्णन गंगा, गंगा पानी के नाम से भी हुआ है।

यह ज़रूर है कि किन्नौर क्षेत्र में जिस तरह से अपने खेतों की सिंचाई के लिए बनी कूहलों में आनेवाले पानी पर 'सुइमा' यानी स्वागत गीत तक बने

हैं, वहीं सतलुज पर कोई स्वतन्त्र लोकगीत उपलब्ध नहीं होता है। जिस किसी भी लोकगीत में इसका वर्णन हुआ है, वह इसके तटों पर बसे गाँवों की भौगोलिक स्थिति के वर्णन क्रम में या प्रेम में धोखा खाने के कारण, इसमें डूबकर आत्महत्या करनेवाली महिला की इससे की गई प्रार्थना में है, ताकि नदी उसे अपने तटों पर बाहर निकाल कर न रख दे। लोक कवि ने सतलुज के कई रूपों का वर्णन किया है। ऐसे कुछ लोकगीतों की पंक्तियाँ उदाहरण के तौर पर प्रस्तुत हैं–

गंगा के नाम से–

नो रोगे या डोगे, ठ ज़ागा दूग्योश।
ठ ज़ागा दूग्योश, यवा ख्यामा गंगा।
यवा ख्यामा गंगा, थवा ख्यामा डोखङ्।

अनुवाद

वह रोगे-डोगे, क्या जगह होगी।
क्या जगह होगी, नीचे देखें तो गंगा।
नीचे देखें तो गंगा, ऊपर देखें तो ढाँक।

ज़ङ-ती के नाम से–

दोग डेन-डेन बीमा, ज़ङ्चो थङ कानम।
ज़ङ्चो थङ कानम, ठ ज़ागा दूग्योश।
ठ ज़ागा दूग्योश, सङम्सी युने।
सङम्सी युने, तुरम्सी गोलछङ।

अनुवाद

ऊपर जाएँ तो ज़ङ-ती के ऊपर कानम।
जङ-ती के ऊपर कानम, क्या जगह होगी।
क्या जगह होगी, सुबह होते ही सूर्य।
सुबह होते ही सूर्य, साँझ ढ़लते ही चन्द्रमा।

लङछेन खंबा के नाम से–

सुनेरू स्पीलो, मशूरीचु देशङ्।
मशूरीचु देशङ् शुम ज़ङ-तीयु मजङो।
शुम ज़ङ-ती लोशिमा, इद ता नागस पानी।
इद ता नागस पानी, इद ता सरपा कुलङ्।
इद ता सरपा कुलङ्, इद ता लङछेन खंबा।

अनुवाद

सुनहरा स्पीलो, मशहूर गाँव।
मशहूर गाँव, तीन भद्र जल के बीच।
तीन भद्र जल कहें, एक नाग चश्मे का जल।
एक नाग चश्मे का जल, एक नया कूहल का जल।
एक नया कूहल का जल, एक लङछेन खंबा का जल।

ज़ङ-ती कुलङ के नाम से–

दो ङेन-ङेन बीमा, जङती कुलङ् रिगे।।
जङती कुलङ् रिगे, मजो कोष्टङ्-पी।।

अनुवाद

वहाँ से ऊपर-ऊपर जाएँ तो ज़ङ-ती कूहल के ऊपर।
ज़ङ-ती कूहल के ऊपर, मध्य कोष्टङ्-पी।

किन्नौर में सतलुज को गंगा के समान ही पवित्र माना जाता है। इसीलिए कुछ क्षेत्रों में मृतक की अस्थियाँ (फूल) इसमें प्रवाहित की जाती हैं। इतना ही नहीं, इसके तटों के निकट बसे गाँवों में लोग शुद्धता की दृष्टि से अपने नवजात शिशु को इसके जल से नहलाते भी हैं। पन्द्रह माघ को मनाये जानेवाले त्योहार पर किन्नौर के कुछ क्षेत्रों में प्रातः सतलुज में नहाने तथा घर वापसी पर पवित्रता की दृष्टि से इसका जल साथ ले जाने की भी परम्परा है। किन्नौर में यदि किसी के यहाँ रखा गंगा-जल समाप्त हो रहा हो तो शेष बचे गंगा-जल में सतलुज का जल मिलाकर, वर्षों उसका प्रयोग गंगा जल के रूप में ही किया जाता है।

हिमालय की ढलानदार घाटियों में बहनेवाली छोटी-बड़ी सभी नदियाँ वेगवती रही हैं, किन्तु सतलुज को अन्य की अपेक्षा ज़्यादा ही तीव्र गतिशील माना जाता है। सतलुज और विपाशा (व्यास) की तीव्र गति को देखकर ही ऋग्वेद की निम्न ऋचा की रचना हुई है–

प्र पर्वतानामुशती उपस्थादश्वे इव विषिते हासमाने।
गावेव शुभ्रे मातरा रिहाणे, विपाट् छुतुद्री पयसा जवेते।।

अनुवाद

बन्धन से मुक्त होने के कारण प्रसन्नता से हिनहिनाती हुई दो घोड़ियों की तरह अथवा अपने बछड़ों को चाटनेवाली दो सफेद वर्णवाली माता गायों के समान विपाट् (विपाशा) और शुतुद्री (सतलुज) ये दोनों नदियाँ पहाड़ के पास से निकलकर समुद्र से मिलने की इच्छा करती हुई, पानी से भरपूर होकर

वेग से बही जाती हैं। (ऋग्वेद 3-33-1)

शिप्की से लेकर किन्नौर की अंतिम सीमा-रेखा चौरा तक सतलुज 130 कि.मी. बहती है। इस यात्रापथ में जगह-जगह कई छोटी-बड़ी नदियाँ, खड्डें, अपने-अपने क्षेत्रों से आकर न केवल इसका स्वागत करतीं हैं, प्रत्युत् अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को मिटा कर इसे और पुष्ट भी करतीं हैं; ताकि यह अपने मार्ग में आनेवाली सभी प्रकार की प्राकृतिक-बाधाओं का मुकाबला करती हुई, अपने गन्तव्य तक पहुँचने में कामयाब हो सकें। शिप्की और नमग्या के मध्य इसकी दायीं ओर सोमङ् और टशिगङ् हैं। सोमङ् एक बौद्ध तीर्थ स्थान ही नहीं, बल्कि एक साधना-स्थल भी है। इस तीर्थ स्थान की पहचान गोदछङ्-पा के शिष्य छोस-ज़े-शेलगम-पा ने की थी। यहाँ पर आर्यतारा, वज्रवराही, हयग्रीव, गरूड़ आदि से सम्बद्ध गुफाएँ हैं। इसके अलावा कई तीर्थ स्थान भी हैं। पुराने समय में टशिगङ्-सोमङ् क्षेत्र को 'थर-पा-लिङ्' यानी मोक्ष क्षेत्र कहा जाता था। नमग्या के नीचे खाब सतलुज और स्पीति (नदी) का संगम है। लाहुल और स्पीति (क्षेत्र) की सीमा रेखा कुन्ज़म-ला के पाद से कुन्ज़म-ला-टोक-पो, कब्ज़िमा तथा पिङ्-लुङ् आदि खड्डों के मिलन से स्पीति नदी बनती है। यह कौरिक तक पहले पूर्व दिशा में बहती है, फिर वहाँ से दक्षिण-मुख होकर सुम्दो से किन्नौर की हङरङ् उपत्यका में प्रवेश करती है। हङरङ् उपत्यका में, स्पीति में चेलाटोक्पो इसके बाँये तट पर और यलिङ्, लिपक तथा तिरासङ् खड्ड इसके दायें तट पर मिलती हैं।

स्पीति नदी अपने उद्गम स्थल से ही पूरे बौद्ध वातावरण तथा 'ज़मस्कद' भाषी क्षेत्रों से आती है। इन क्षेत्रों के गाँवों में बौद्ध विहार की प्रधानता रहती है, ग्राम-देवता भी यहाँ बौद्ध वातावरण में ही हैं। इस उपत्यका में सुमरा, शेलखर, चाँगो, मलिङ्, नाको, लियो, चुलिङ्, हाँगो–ये आठ गाँव आते हैं। पहले वर्णित पुरग्युल पर्वत इसी उपत्यका में स्थित है। इसी पर्वत की गोद में नाको गाँव स्थित है। इसी गाँव में दसवीं शताब्दी में महानुवादक रत्नभद्र द्वारा निर्मित ऐतिहासिक बौद्ध विहार भी है।

इस बौद्ध उपत्यका को महानुवादक रत्नभद्र ने अपने कई अवतारों से अधिष्ठित किया है। नाको गाँव की प्रसिद्ध नाको झील, मानो इसका नगीना है, जिसने इसकी सुन्दरता में चार चाँद लगा दिये हैं। जहाँ पर्यटन की दृष्टि से इस झील का महत्त्व है, वहीं सांस्कृतिक तथा धार्मिक दृष्टि से भी यह महत्त्वपूर्ण है। इस झील के किनारे स्थित एक लघु बौद्ध विहार में गुरु पद्मसम्भव के चरण-चिह्न तथा पुरग्युल देवता के पंजे का चिह्न विद्यमान

है। इस उपत्यका को स्थानीय लोग 'हङ्-ला-ग्येन-दुक' भी कहते हैं। अतीत में यह 'हङ्ला-ग्येन-दु-खुनङ्' यानी परगना था। इस परगने में हाँगो, चाँगो तथा नाको नाम की तीन गोरियाँ यानी गढ़ थे।

खाब में स्पीति से मिलने के बाद सतलुज डवलिङ्-डुवलिङ् होती हुई, पूह क्षेत्र में प्रवेश करती है। अतीत में यह क्षेत्र भी कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण रहा है। यहाँ भी महानुवादक रत्नभद्र द्वारा दसवीं शताब्दी में स्थापित ऐतिहासिक बौद्ध विहार था, जिसे बाद में तोड़कर नया बना दिया गया था। यहाँ कोरो में गुगे के धर्मराज गुरुदेव ज्ञानप्रभ के जीवनकाल में लिखित एक ऐतिहासिक शिलालेख भी विद्यमान है। पूह गाँव से दस कि.मी. और आगे बढ़ने पर श्यसो खड्ड के पास सतलुज का मिलन गोनयुल उपत्यका के शीर्ष में स्थित रोपा गाँव के ऊँचाईवाले क्षेत्रों से बहकर आनेवाली रोपा खड्ड से होता है, जिसे श्यसो खड्ड भी कहते हैं। इस उपत्यका में रोपा, ग्यवोङ्, रूशकलङ्, सुन्नम, श्यसो गाँव आते हैं। यह पूरा क्षेत्र बौद्ध विहार तथा ग्राम-देवता दोनों की प्रधानतावाला है। इसमें हमस्कद, थेबोरस्कद तथा सुन्नमी– ये तीन बोलियाँ बोली जाती हैं। इसमें सुन्नमी, मात्र सुन्नम गाँव की बोली है। इस क्षेत्र के रोपा तथा सुन्नम में महानुवादक रत्नभद्र द्वारा स्थापित बौद्ध विहार मूल रूप में विद्यमान हैं। विश्वविख्यात बौद्ध विद्वान एवं सन्त स्व. नेगी रिनपोछे तथा स्व. गेशे रिगज़िन तन-पा के जन्म-ग्राम क्रमशः सुन्नम तथा ग्यवोङ् इसी उपत्यका में हैं।

श्यसो खड्ड से नेसङ् पुल पहुँचते ही सतलुज का मिलन ग्यनथिङ् यानी नेसङ् खड्ड से इसके बायें तट पर होता है। इस उपत्यका में नेसङ् नाम से एक ही गाँव है। इस गाँव को 'नेसङ्' यानी गुप्तस्थान इसलिए कहा जाता है, क्योंकि यह गाँव वहाँ पहुँचने तक अदृश्य ही रहता है। इस गाँव के सम्बंध में स्थानीय लोगों का मानना है कि यह अतीत में बौद्ध साधना-स्थल था। यहाँ शुरू में जो लोग आये, वे साधना के मकसद से आये थे, उन्हीं में से कुछ लोग बाद में गृहस्थ बन गए तो यह गाँव बसा। यहाँ अतीत में यप-लामा नाम के एक सिद्ध भी हुए थे। उन्हें कई रहस्यात्मक शक्तियाँ हासिल थीं। वे इधर-उधर उड़कर जाते थे, इसलिए उन्हें लोग यप-लामा यानी 'उड़नेवाले गुरु' कहते थे।

यहाँ दुंगदर कूहल में यप लामा के पवित्र चरण-चिह्न हैं। यप-लामा ने यहाँ पङ्रङ् माता नामक एक रक्षिका की भी स्थापना की। साथ ही 'ठाकुर लाबरङ' नाम से एक बौद्ध विहार की भी स्थापना की, जो आज भी यहाँ

विद्यमान है। इस बौद्ध विहार के सम्बंध में स्थानीय लोगों की मान्यता है कि मध्यरात्रि में अपना दरवाजा खोलने की आवाज़ मात्र से यह बौद्ध विहार निकट भविष्य में गाँव में होनेवाली किसी की मौत की पूर्व सूचना देता है। यहाँ कुछ अन्य बौद्ध विहार भी हैं। युग्यल टुल्कू रिनपोछे के नाम से ख्यात रिनपोछे जी ने अपने कई अवतारों से इस गाँव को गौरवान्वित किया है। वर्तमान 9वें युग्यल-टुल्कू रिनपोछे भी इसी नेसङ गाँव में अवतरित हुए हैं। नेसङ गाँव का पूरा वातावरण बौद्धमय है। यहाँ की भरपूर फसल तथा धार्मिक वातावरण का वर्णन एक लोक गीत में निम्न प्रकार से हुआ है–

दो डेन-डेन बीमा, बायुलो नेसङ्।
बायुलो मलोन, छवायुलो नेसङ्।
छवायुलो मलोन, छोयुलो नेसङ्।

अनुवाद

वहाँ से ऊपर-ऊपर जायें तो, गुप्त गाँव नेसङ्।
गुप्त गाँव न कहें, धान्य गाँव नेसङ्।
धान्य गाँव न कहें, धर्म गाँव नेसङ्।

नेसङ् पुल से आगे बढ़ने पर थेबोर भाषी क्षेत्र शुमछो में सतलुज का प्रवेश होता है। इस क्षेत्र के कानम गाँव में महानुवादक रत्नभद्र का एक बौद्ध विहार था, जो अब मूलरूप में नहीं है। उसके स्थान पर अब नया बौद्ध विहार बना है। इस गाँव में खछे लाखङ् नाम से एक और प्रसिद्ध बौद्ध विहार तथा एक कंग्युर लाखङ् भी है। अतीत में शुमछो एक गोरी यानी गढ़ था। इस क्षेत्र में कानम के अलावा लाबरङ्, कोरला और स्पीलो गाँव भी हैं। लाबरङ् गाँव में ठाकुर शाही काल यानी 14 वीं 15 वीं सदी का एक ऐतिहासिक किला भी है। इसी गाँव में महानुवादक रत्नभद्र का एक ऐतिहासिक स्तूप मूल रूप में है। यह पूरा शुमछो क्षेत्र बौद्ध विहार तथा ग्राम-देवता की प्रधानता वाला क्षेत्र है। यहाँ के ग्राम-देवता भी बौद्ध उपासक ही हैं।

शुमछो की सीमा पर कीरङ् के पास सतलुज का मिलन इसके दायें तट पर तैती उपत्यका के शीर्ष लरसा तथा इसके आस-पास के क्षेत्रों से बनकर आनेवाली पेंजुर या तैती नाम की नदी से होता है। स्पीति के बाद तैती दूसरी बड़ी नदी है जो सतलुज में मिलती है। लरसा से कीरङ् तक इसके दायें तट पर क्रमशः टेपोङ्, चिपोङ्, गुमज़ङ्, वारी, शुलती, द्रमलिङ्, ओरशटङ्, गुरशा, सवाफु, पेतकारङ्, ज्योरङ्, ठोफुर, शोङ्ला और बायें तट पर कुलु सोरङ्, होमगर, रकठा, ठोटी, चत-तीगारङ् (लिप्पा खड्ड) आदि खड्डें इसमें मिलतीं हैं।

इस पूरी उपत्यका में तोक्तो, आसरङ्, लिप्पा–ये तीन ही गाँव हैं। तोक्तो में महानुवादक रत्नभद्र का एक ऐतिहासिक बौद्ध विहार है।

इस उपत्यका में स्थित लिप्पा गाँव के कंढे में इस क्षेत्र का प्रसिद्ध 'डक चोम-पा' बौद्ध तीर्थ स्थल है। इस उपत्यका को अतीत में 'ख्युङ्-लुङ्-टुल्कू' के नाम से विख्यात बोन धर्म के महान विद्वान एवं साधक ने अधिष्ठित किया है। 'ख्युङ्-लुङ्-टुल्कू' ने लिप्पा के 'सेरिङ्-चे' क्षेत्र में एक बोन विहार (Bon Monastery) की भी स्थापना की थी, जो अब काल-कवलित हो चुका है। वर्तमान में इस लिप्पा क्षेत्र के कई विद्यार्थी सिरमौर के दोलन्जी क्षेत्र में स्थित पल-शेनतेन मेनरिलिङ्, बोन अध्ययन संस्थान में बोन धर्म, दर्शन की परम्परागत शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। इनमें श्री थुबतन ग्यलछ़न नेगी एक ऐसे विद्वान हैं, जिन्होंने सन् 2004 में बोन धर्म-दर्शन की शिक्षा परम्परा में गेशे यानी डॉक्टरेट की सर्वोच्च उपाधि प्राप्त की है। बोन धर्म-दर्शन का अध्ययन करनेवाले इन विद्यार्थियों के कारण ही किन्नौर में प्रचलित शङ्-शुङ् सांस्कृतिक परम्परा को नया आयाम मिला है।

कीरङ् से आगे बढ़ने पर बायीं तरफ स्थित मूरंग क्षेत्र में सतलुज का मिलन तिरुङ् खड्ड से होता है। यह खड्ड भारत-तिब्बत की सीमा से बनकर उत्तर-पश्चिम दिशा में बहती हुई, यहाँ पहुँचती है। इस खड्ड के बायीं तरफ किन्नर-कैलास (रल्दङ्) पर्वत स्थित है। किन्नर-कैलास की परिक्रमा करनेवाले करछम से चलकर, इसी तिदोङ् उपत्यका से होकर चारङ् गाँव पहुँचते हैं। वहाँ महानुवादक रत्नभद्र द्वारा स्थापित रङ्रिगचे बौद्ध विहार में बुद्ध-बोधिसत्त्वों तथा रङ्रिगचे स्रुङ्मा यानी यहाँ की रक्षिका का आशीर्वाद प्राप्त कर, परिक्रमा से सम्बद्ध सारी मान्यताओं तथा परम्पराओं का निर्वाह करते हुए, लालन्ती जोत पारकर छितकुल पहुँचते हैं और वहाँ राणी रणसंगा के रूप में ख्यात ग्राम देवी छितकुल माथी (माता) का आशीर्वाद प्राप्त कर, रकछ़म-साँगला-कुपा होते हुए, पुनः करछम पहुँचकर, अपनी किन्नर-कैलास परिक्रमा पूरी करते हैं। इस उपत्यका में उपर्युक्त चारङ् गाँव के अतिरिक्त कुनु, लम्बर, ठंगी, मूरंग तथा रिस्पा गाँव आते हैं। मूरंग में भी लम्बर की तरह ही एक पहाड़ी पर ठाकुरकाल (14-15 वीं शताब्दी) का एक ऐतिहासिक किला है, जिसमें अब स्थानीय ग्राम-देवता 'ओरमी' विराजते हैं। इस उपत्यका में स्थित गाँवों के शीर्ष में स्थित कुनु तथा चारङ् जमस्कद भाषी गाँव हैं और शेष सभी हमस्कद भाषी क्षेत्र हैं। इस पूरी उपत्यका में बौद्ध विहार तथा ग्राम देवता की प्रधानता है।

मूरंग से आगे बढ़ने पर सतलुज के बायें तट पर चेरङ् गारङ्, रल्दङ् गारङ्, तङलिङ् गारङ्, बारङ् गारङ् और दायें तट पर कशङ् गारङ और मलगुन गारङ् (खड्ड) मिलती हैं। सतलुज की दायीं तरफ मिलनेवाली उक्त खड्डों का मूल स्रोत रल्दङ् यानी किन्नर-कैलास के विभिन्न क्षेत्र हैं, क्योंकि मूरंग के बाद करछम तक सतलुज अपनी बायीं तरफ स्थित इसी पर्वत के पाद से गुज़रती है। चेरङ् खड्ड के सम्बंध में यह आम देखा जाता है कि जब भादों माह में किन्नौर की अन्य खड्डों तथा नदियों के जलस्तर में भारी कमी आती है, उस समय इस खड्ड के जलस्तर में इतनी वृद्धि होती है कि कभी-कभी इसमें बाढ़ की स्थिति तक बन जाती है। इसीलिए स्थानीय लोगों में यह 'भद्रङ्-बूचा-गारङ्' यानी भादों में बेहद बढ़नेवाली खड्ड के रूप में प्रसिद्ध है।

रल्दङ् खड्ड के आगे जो गाँव आता है, उसे रिब्बा (रिदङ्) के नाम से जाना जाता है। यह क्षेत्र पूरे किन्नौर में 'अंगूरी' के लिए प्रसिद्ध है। जिस तरह किन्नौर में नाको की छङ् और नेसङ् की ब्राँडी का कोई मुकाबला नहीं है, वैसे ही यहाँ की 'अंगूरी' का भी कोई सानी नहीं है। यहाँ पर कुछ वर्ष पहले तक महानुवादक रत्नभद्र का एक लघु आकार का काष्ठ निर्मित बौद्ध विहार मूल रूप में विद्यमान था, जो सन् 2006 में अग्निग्रस्त हो गया। उसकी जगह अब नये बौद्ध विहार का निर्माण हो रहा है। किन्नौर क्षेत्र में यह पहला गाँव है जहाँ महानुवादक को अपने बौद्ध विहार निर्माण मिशन में स्थानीय लोगों के विरोध का सामना करना पड़ा था। कहते हैं, रिब्बावाले उन्हें घेर कर उनका हाथ काटना चाह रहे थे, किन्तु जैसे ही महानुवादक को उनकी इस मंशा की भनक लगी, वे अपने नवनिर्मित बौद्ध विहार की छत से जंघाचारिक सिद्धि के बल पर पक्षी की तरह उड़कर सीधे सतलुज पार रारङ् में स्थित चनदारङ् पहुँच गए थे। इस कारण रिब्बावालों की योजना धरी रह गई। चनदारङ् में वह जिस चट्टान पर बैठे थे, उस पर उनके काय चिह्न अंकित हो गए। रारङ् में दो स्तूपों का निर्माण कर वे खदुरा की तारग पहाड़ी पर पहुँचे थे। यहीं से वह अपने रिदङ् बौद्ध विहार की प्रतिष्ठा सम्पन्न कर आगे बढ़े थे। इस घटना का वर्णन महानुवादक रत्नभद्र पर रचित एक लोकगीत में भी हुआ है—

गुइ निज़ा रिनमेन, लोचाइ म शेसग्यो।।
लोचाइ म शेसग्यो, गुद मुल-मो लोशो।

अनुवाद

नौ बीस रिब्बावाले, लोचा (रत्नभद्र) को ही न पहचान पाये।

लोचा को ही न पहचान पाये, हाथ काटने को बोल रहे।

रिब्बा से लेकर तङ्लिङ् तक के क्षेत्र के शिखर ही किन्नर-कैलास की प्रमुख चोटियाँ मानी जाती हैं। इसमें एक प्रमुख चोटी प्रातः सूर्योदय से लेकर सायं सूर्यास्त तक विविध रंगों में दिखती है। साथ ही, पोवारी के शीर्ष पर स्थित एक समतल जगह पर कई फुट ऊँचा एक खड़ा पत्थर भी है, जिसे लोग शिवलिंग मानते हैं। गर्मियों में इस शिवलिंग तक पहुँचना आसान होने से लोग इस दौरान इसका दर्शन करने वहाँ तक जाते हैं। सतलुज की दायीं ओर स्थित रारङ् में महानुवादक रत्नभद्र के दो प्राचीन स्तूप विद्यमान हैं। यहाँ स्थानीय जनसहयोग से तिब्बत के स्व. गा-रिनपोछे शेडुब छोसकि ञिमा द्वारा स्थापित विशाल बौद्ध स्तूप पूरे किन्नौर के लोगों के लिए जहाँ आकर्षण का केन्द्र है, वहीं इस गाँव के लिए तो मानो यह नगीना ही है। यहाँ के ग्राम-देवता पथोरो स्वयं बौद्ध उपासक हैं। वे भी कई-कई महीने बौद्ध विहार में जा कर साधना करते हैं।

यहाँ पर विष्णु भगवान भी स्थानीय लोक धर्म के तहत लोक-देवता बने हैं। रारङ् के श्री अमर सिंह उनके 'माली' हैं। अपने इन्हीं 'माली' के माध्यम से वे लोगों से बातें करते हैं। अमर सिंह के घर की छत पर ही उनका छोटा-सा, मगर दो कक्षीय एक मंज़िला खूबसूरत देवालय है। इसके भीतर उनका एक छोटा-सा सजा-धजा रथवाहन है। इसी पर वे विराजते हैं। जन कल्याणार्थ यदि दूसरे गाँव जाना ज़रूरी हुआ तो वह अपने इसी रथ पर सवार होकर जाते हैं। अधिकांश जगहों में तो उनका क्रो (देव पात्र विशेष) ही ले जाया जाता है। अपनी शरण में आए दुःखी लोगों के दुःख-दर्द वे महीने की कुछ निर्धारित तिथियों को अपने देवालय में ही सुनते हैं। वहीं उनके निवारण का उपाय भी बताते हैं। उन्होंने अपने 'माली' के माध्यम से रारङ् आने से पहले अपना निवास स्थान पश्चिमी तिब्बत का ख्युङ्लुङ् क्षेत्र बताया है। यह क्षेत्र बोन धर्म के प्रवर्तक शास्ता शेनरब का भी धर्म प्रचार का क्षेत्र रहा है। इसलिए बोन परम्परावालों का यह पवित्रतम तीर्थ स्थान है। इस कारण रारङ् विष्णु देवता बोन धर्मावलम्बियों के भी कुल देवता हो गये हैं। सोलन के निकट ओच्छघाट से कुछ कि.मी. की दूरी पर सिरमौर के दोलन्जी में स्थित बोन विहार में भी इनका आना-जाना रहता है।

सतलुज के दायें तट पर इसमें मिलनेवाली कशङ् खड्ड, जिसे स्थानीय लोग कशङ् गारङ् कहते हैं, इसी नाम की उपत्यका के शीश से बनकर आती है। इस उपत्यका में पंगीवालों के कंढे की ज़मीनें तथा उनकी दोघरियाँ हैं।

इनके अतिरिक्त इसमें कोई स्थायी बस्ती नहीं है।

मलगुन खड्ड को स्थानीय लोग कोयङ् गारङ् भी कहते हैं। इधर यह पांगीनाला के नाम से भी ख्यात है। यह खड्ड मलगुन उपत्यका के शीश से बनकर आती है। इस उपत्यका में पर्याप्त ऊँचाई पर बायीं तरफ पंगी गाँव स्थित है। इस गाँव में ग्राम-देवता शेशेलिङ् का राज चलता है। यहाँ भी महानुवादक रत्नभद्र का एक ऐतिहासिक बौद्ध विहार है। सूर्य के दक्षिणायन प्रवेश के उपलक्ष्य में किन्नौर में मनाया जानेवाला दखरेण या दखरेणी त्योहार सबसे प्रसिद्ध इसी गाँव का है।

किन्नौर के लोगों को अपने इस दखरेण त्योहार की बड़ी बेसब्री से प्रतीक्षा रहती है। लोगों की इस प्रतीक्षा को लोक कवि ने अपने 'दखरेणी गीत' की निम्न पंक्तियों में व्यक्त किया है--

तेराडी म बद, कशो दखरेणी, तेराडी म बद।
बन ता बतो अनुरितङ् सी, बन ता बतो।
अनुरितङ् अषारङ् ब्युगेन, अनुरितङ्।
अषारङ् ब्युगेन, शउनङ् जुगेन अषारङ् ब्युगेन।

अनुवाद

कभी नहीं आयेगा, हमारा दखरेण कभी नहीं आयेगा।
आना तो आयेगा, अपनी ऋतु में, आना तो आयेगा।
अपनी ऋतु आषाढ़ की समाप्ति पर, अपनी ऋतु।
श्रावण के प्रारम्भ पर, आषाढ़ की समाप्ति पर।

पंगी से रोगे तक का क्षेत्र साएराक के नाम से जाना जाता है। इस क्षेत्र को होपु और माती शोबाल्यङ् भी कहा जाता है। जिला किन्नौर के अतीत और वर्तमान के मुख्यालय क्रमशः कल्पा तथा रिकाँगपिओ इसी साएराक क्षेत्र में स्थित हैं। इसे साएराक इसलिए कहा जाता है, क्योंकि इस क्षेत्र में मूल दस गाँव स्थित हैं। ठाकुर काल में यह क्षेत्र चिने नाम की गोरी (गढ़) में था। चिने गाँव में महानुवादक रत्नभद्र का एक ऐतिहासिक बौद्ध विहार सन् 1959 तक मूलरूप में था, जो 15 सितम्बर, 1959 को अग्निग्रस्त हो गया और अब उसी जगह पर नया बौद्ध विहार बना है। इस पूरे क्षेत्र में कई ग्राम-देवता हैं, किन्तु सबसे ताकतवर 'कोष्टङ्-पी दरगा' यानी कोठी दुर्गा हैं। इसे चोण्डिका (चंडिका) भी कहते हैं। इस पूरे क्षेत्र में इसी का हुक्म चलता है। यह शोणितपुर के राजा बाणासुर की, हिरमा (हिडिम्बा) से ग्रोसनम (सुंगरा) के गोरबोरङ् अग (गुफा) में जन्मी बेटी है। चगाँव महेश्वर, भावा महेश्वर तथा

सुंगरा महेश्वर—ये तीनों हिरमा से, उक्त गुफा में जन्मे, बाणासुर के बेटे हैं। इनमें कोठी देवी सबसे बड़ी है। बाणासुर की मृत्यु के बाद पिता की ज़मीन-जायदाद को लेकर जब भाइयों में विवाद चल रहा था तो उनकी इसी बड़ी दीदी ने भावा क्षेत्र के 'रारुङ्-पनुङ्' में अपने तीनों भाइयों को बुलाकर न केवल उन्हें आपस में विवाद न करने के लिए समझाया था, बल्कि पिता की ज़मीन-जायदाद भी उनमें बाँट दी थी। उस समय कोठी देवी ने इस 'साएराक' क्षेत्र को अपने भाइयों की नज़रों से बचाकर, अपनी वेणी में छिपा कर रखा था; जिस पर आज भी उसका राज है।

शोङ् ठोङ् के स्थान पर बारङ् खड्ड के सतलुज में मिलने के बाद करछम में इसके बायें तट पर बासपा नदी मिलती है। बासपा सतलुज की वह बड़ी सहायक नदी है, जो किन्नौर की खूबसूरत बासपा (साँगला) उपत्यका में बहती हुई यहाँ पहुँचती है। यह उपत्यका बाहरी धौलाधार और उत्तर-पूर्व में रल्दङ् पर्वत से घिरी है।

साँगला तथा कामरू के ग्राम-देव क्रमशः बद्रीनाथ तथा बैरङ् नाग के 'चिरोनिङ्' यानी बखान के अनुसार अतीत में, जब ये दोनों देव अपनी-अपनी जगहों से इस क्षेत्र में आये, उस समय यह बासपा क्षेत्र पानी से भरा एक विशाल तालाब था। साँगला के ग्राम-देव बैरङ् नाग अपने 'माली' (प्रवक्ता) के माध्यम से दावा करते हैं कि उन्होंने ही उस तालाब के जल को (रूतुरङ् से नीचे) बहा दिया था—

....

तिदेका मुइ साँगला, अइयो सोन।
इदे पानीयो तालाब भोरियो सोन।
इदे असतङ्-चे माटियो, ओरू-पोरू।
मुषको-विरालियों खेलियो सोन।।
मुइ पानीयो मुइ मुछियो फिरियो सोन।
तेस पानी, मुइ घडिया सोन।

अनुवाद

वहाँ (बाहरीबोराल) से, मैं साँगला आया था।
यहाँ पानी से भरा तालाब था।
यहाँ असतङ्-चे (साँगला) क्षेत्र में इधर से उधर
(मैं) मूषक (और बद्रीनाथ) बिडाली खेलते थे।
मैंने पानी के मुख को मोड़ दिया।

पानी को मैंने (रूतुरङ् से) नीचे बहा दिया।

अतीत में बासपा उपत्यका क्षेत्र की जो भी स्थिति रही हो, किन्तु वर्तमान में इस उपत्यका में बहनेवाली बासपा नदी के दोनों तटों पर कई खड्ड तथा नाले आ मिलते हैं। इसके बायें तट पर शुरू से अन्त तक क्रमशः छ्मरी गारङ्, कारू गारङ्, यरपवङ् गारङ्, छितकुल शोने गारङ्, रकछ्म शोने गारङ्, मोनागुरू नालङ्, पुडेडर नालङ्, शुपंगल नालङ्, कनासा गारङ्, मिला डोङखङ्, रोक नालङ्, बोसेरिङ् नालङ्, हुरवा गारङ्, रेशोर नालङ्, रूक्ती गारङ् और दायें तट पर क्रमशः ताङो गारङ्, तुमर गारङ्, मुजलङ् नालङ्, छितकुल नालङ्, शुशङ् गारङ्, मस्तरङ् गारङ्, खोरमा नालङ्, हुखा नालङ्, गोर गारङ्, खोरगला नालङ्, सेरिङ्-चे नालङ्, गंगा गारङ्, (गंगारङ्) टोङ टोङ चे नालङ्, गोटङ् नालङ् आदि (खड्ड तथा नाले) मिलते हैं।

बासपा के दायें तट पर मिलनेवाली खड्डें वैसे तो रल्दङ् (किन्नर कैलास) पर्वत से ही निकलती हैं, किन्तु उनमें से गंगा-गारङ् (गंगारङ्) के प्रति यहाँ के लोगों की वही मान्यता है जो कैलासपति शिवजी के जटा-जूट से निकल कर बहनेवाली भागीरथी गंगा के प्रति भारतीय जनमानस की है। ऐसे भी यहाँ के लोग किन्नर कैलासपति शिवजी के जटा-जूट से निकल कर आनेवाली पवित्र खड्ड मानते हैं। इसीलिए यहाँ के लोग इसे गंगा-गारङ् (गंगारङ्) यानी गंगा खड्ड कहते हैं। साँगला-कामरू में विशेष अवसरों पर इन दो गाँवों के ग्राम-देवों के चोखस (शुद्ध लोग), गूर आदि कारदारों को शुद्धता एवं पवित्रता की दृष्टि से एक निश्चित काल तक प्रातः इस गंगा-गारङ् में स्नान करना ज़रूरी होता है। साथ ही, गंगा गारङ् के प्रति लोगों की यह भी मान्यता है कि इसके जल में स्नान करने से कई प्रकार के चर्म रोगों का भी शमन होता है और इसका जल गंगाजल की भाँति ही वर्षों रखने पर भी सड़ता नहीं है। इस कारण लोग दूर-दूर से आकर, इसके पानी को अपने घरों को ले जाकर, इसका उपयोग औषधि-जल के रूप में करते हैं।

इस बासपा उपत्यका में बासपा नदी की दायीं तरफ क्रमशः छितकुल, रकछ्म, खोरगला, सेरिङ्-चे, बोनङ् सारिङ्, साँगला, कामरू कुपा सारिङ् और बायीं तरफ क्रमशः बोसेरिङ्, चासङ्, शोङ्, ब्रुवङ्, बुटुरिङ्, रापङ् गाँव बसे हैं। इस उपत्यका में कई प्रसिद्ध त्योहार मनाये जाते हैं। इनमें सूर्य के उत्तरायण प्रवेश पर उतरेणी बोसेरिङ् गाँव में, छितकुल-रकछ्म गाँव में, उख्यङ्, साँगला गाँव में, बूढ़ी दिवाली और विक्रमी नव सम्वत् के प्रारम्भ पर मनाया जानेवाला चैत्रोल चासङ् गाँव में।

इस उपत्यका में स्थित शुशङ् खड्ड से ऊपर का सम्पूर्ण छितकुल क्षेत्र साँप-बिच्छु, छिपकली-मक्खी, कीड़ा-मकोड़ा मुक्त क्षेत्र है। स्थानीय लोग इसे छितकुल क्षेत्र की सुप्रसिद्ध ग्राम देवी छितकुल माथी तथा उनके दामाद कारूदेव की कृपा मानते हैं।

बासपा उपत्यका में स्थित छितकुल-रकछ़म की भाषा छितकुली है और शेष हमस्कद भाषी क्षेत्र हैं।

बासपा तथा सतलुज के सम्बंध में इस क्षेत्र में एक दन्तकथा भी प्रचलित है। कहा जाता है कि सतलुज और बासपा पहले आपस में भाई-भाई थे। जब पहली बार दोनों ने अपने स्थान से चलना शुरू किया तो इन दोनों ने आपस में एक समझौता किया। इस समझौते के अनुसार तय था कि संगम स्थल (करछ़म) पर जो पहले पहुँचेगा, आगे उसी का नाम चलेगा। बासपा सतलुज से छोटा तथा मौज़-मस्ती पसन्द था। जब वह चला तो पूरे बाज़े-गाज़े के साथ चला। सतलुज जहाँ बासपा से बड़ा था, वहीं उससे कहीं अधिक समझदार तथा शांत स्वभाव का भी था। जब वह चला तो बिना किसी शोर-शराबे के चुपके-चुपके चला और करछ़म में बासपा से पहले पहुँच गया। वह वहाँ देर तक बासपा के आने का इन्तज़ार करता रहा; किन्तु जब उसे बासपा आते नहीं दिखा तो उसे अपने छोटे भाई की चिन्ता होने लगी और वह उसकी खोज-ख़बर में उसके आने के रास्ते पर निकल पड़ा। उसे खोजते जब वह पलिङ्-चे़ पहुँचा तो उसे दूर से बासपा बाज़े-गाजे के साथ झूमता आता दिखा। समझौते के अनुसार सतलुज संगम स्थल पर बासपा से पहले पहुँचा था, इसलिए करछम-संगम के बाद आगे उसी का नाम चला।

सतलुज अपने छोटे भाई बासपा को ढूँढता 'पलिङ्-चे़' तक पहुँचा था, इस बात की गवाही बाद में कौन देगा? इसलिए सतलुज ने इस उपत्यका में पलिङ्-चे तथा लिमचो तक के क्षेत्र को चिलगोज़ा पैदा करनेवाला क्षेत्र बनाया, ताकि भविष्य में लोग चिलगोज़े के पेड़ों को देखकर जान सकें कि सतलुज कभी यहाँ तक आया था।

करछ़म से आगे चो़लिङ् पहुँचने पर सतलुज के दायें तट पर युला उपत्यका के शीश से आनेवाली युला खड्ड मिलती है, जिसे स्थानीय लोग खोटोगो-गारङ् भी कहते हैं। इस उपत्यका के दोनों तरफ युला, मीरू, उरणी गाँव बसे हैं। करछ़म से आगे बायें तट पर रापङ् (सापनी) वालों की लिखि गारङ् सतलुज में मिलती है। इसके आगे आने पर बायीं तरफ 'बाटिचु़ किल्बा' यानी प्याला-सा (सुन्दर) किल्बा गाँव आता है।

चोलिङ् से आगे बढ़ने पर सतलुज की दायीं तरफ टापरी आता है। टापरी से ऊपर चगाँव स्थित है, जिसे स्थानीय लोग ठोलङ् भी कहते हैं। अतीत में यह गाँव रास ग्रामङ् खुनङ् यानी परगने के पग्रामङ् गोरी (गढ़) के अन्तर्गत आता था। सन् 1810 ई. में जब काजी अमर सिंह थापा के नेतृत्व में आनेवाली गोरखा सेना ने बुशहर की राजधानी रामपुर पर अधिकार कर लिया था, तो वहाँ के वज़ीरों ने सुरक्षा की दृष्टि से पाँच वर्षीय बलथोन यानी नाबालिग राजा महेन्द्र सिंह तथा राजमाता को रामपुर से लाकर इसी चगाँव के 'थङ-कोटी-देवालय' में रखा था। कहते हैं, उस समय राजरसोई यहाँ के तुरकस परिवार के घर, राजखज़ाना दम्यस परिवार के घर और राज अश्व बोङ्खुल परिवार के यहाँ रखे गये थे।

ग्राम-देवता चगाँव महेश्वर जिन्हें स्थानीय लोग 'ठोल-मोनशिरस' भी कहते हैं, पूरे रासग्रामङ् खुनङ् (परगने) के बड़े देवता हैं। इसी चगाँव महेश्वर ने अतीत में अपने अन्य दो भाइयों की इच्छा के विरूद्ध जाकर अपनी 'तेग दउच़' यानी बड़ी दीदी (वर्तमान कोठी देवी) की सहायता की थी, जब वह चिने (कल्पा) गाँव की पनचक्की के स्थान पर तत्कालीन चिने गोरी यानी चिने गढ़ के शासक एमर्स दसराम नामक ठकुरस (ठाकुर) के साथ युद्ध में बुरी तरह उलझी हुई थी।

टापरी से आगे सतलुज के बायें तट पर वंगतु पुल तक क्रमशः दूलिङ्, मेल्लगर, पनगर आदि खड्डें इसमें मिलती हैं। टापरी के पार दूलिङ् खड्ड जिस जगह पर सतलुज में मिलती है, उस जगह को शोल्तु कहा जाता है। यह वह ऐतिहासिक जगह है, जहाँ सन् 1810 में किन्नौर के बहादुर लोगों ने रात में अचानक हमला करके गोरखा-बोइरस यानी गोरखा शत्रु सेना के दाँत बुरी तरह से खट्टे किये थे। वह सेना रामपुर राजधानी लूटकर, नाबालिग राजा का पीछा करती हुई, किन्नौर के कामरू किले में राज-खज़ाना लूटने के लिए जा रही थी। विवश होकर गोरखा सेना को यहीं से वापिस लौट जाना पड़ा था। कहते हैं, किन्नौर के इन छापामार हमलावरों को गोरखा सेना के यहाँ पहुँचने की खबर तत्काल शायद ही लग पाती, यदि गोरखा सेना के कब्ज़े में दो किन्नौरी लड़कियाँ न आतीं। इन दोनों के साथ जब गोरखा सेना यहाँ के किसी डाँडे (शिखर) पर पहुँचीं तो, थक कर सेना ने थोड़ी देर वहाँ विश्राम किया। इसी बीच गोरखा सैनिकों ने इन दोनों से किन्नौरी लोकगीत सुनाने को कहा। इन लड़कियों ने किन्नौरी भाषा से अपरिचित गोरखा सैनिकों को लोकगीत सुनाने के बहाने, ऊँची आवाज़ में लोकगीत के बोलों में ही, निम्न

सन्देश उस क्षेत्र के आस-पास के ग्रामवासियों को दिया, जिससे लोग गोरखा सेना पर रात में अचानक हमला करने के लिए तैयारी कर पाये—

अङ् फयुलु भइ-सइ, इचु बातङ् रोनचिरच।
इचु बातङ् रोनचिरच, गोरखा बोइरस जङ् बन शुङा।

अर्थात्

मेरी मातृभूमि के मित्रो! एक बात सुनें !
एक बात सुनें, गोरखा शत्रु यहाँ पहुँच चुके हैं।

इन किन्नौरी लड़कियों के सम्बंध में यह कहा जाता है कि गोरखा-सेना के सैनिक किन्नौर से लौटते समय इन्हें भी अपने साथ ही ले गये थे। तीन-वर्ष बाद ये दोनों पुनः रामपुर के लवी मेले में दिखी थीं। रामपुर लवी में अपनी पूर्व परिचित महिलाओं के मिलने पर ये दोनों उन्हें सम्बोधन में 'ननेच्' यानी बूआ/मामी और 'दउच्' यानी बड़ी दीदी– ये दो शब्द किन्नौरी भाषा के बोल रहीं थीं।

गोरखा सेना के शोल्तु से वापिस लौट जाने के सम्बंध में एक दूसरी जनश्रुति यह भी कहती है कि पवारी के वज़ीर फतेह राम ने आगे बढ़ते गोरखों को शोल्तु के निकट रोक कर अपार धन-सम्पदा देकर वापिस लौटने के लिए राजी किया। यह भी कहा जाता है कि उसने बड़े-बड़े बक्सों में पत्थर भरकर बाहर से बड़े-बड़े ताले लगाकर, गोरखों को सौंप दिये। साथ ही उसने यह भी कह दिया कि राजखज़ाने से भरे इन बक्सों की चाबियाँ उसे अभी मिल नहीं रही हैं। बज़ीर से उन बड़े-बड़े ताले लगे बक्सों को पाकर गोरखा सेना यह सोचकर बड़ी प्रसन्न हुई कि उन्हें बिना युद्ध किये ही राजखज़ाना मिल गया और वे लोग वापिस लौट गए। देश छोड़ने के बाद ही उन्हें वास्तविकता का पता चला होगा।

पनगर खड्ड के शीर्ष में जुलाई 1997 में बादल फटने के कारण इसमें भारी बाढ़ आयी थी, जिससे सतलुज पर महीनों झील भी बनी रही थी।

सतलुज के दायें तट पर वंगतु के पास बङ्-पो या भावा उपत्यका से वंगर तथा सुरचो नाम की दो खड्डों के मिलने से बनी वंगर खड्ड इसमें मिलती है। वंगर का मूल उद्गम स्थान भावा उपत्यका का शीर्ष तरेखगो (वङ् खगो) दर्रे पर स्थित सरोवर विशेष है, जिसे स्थानीय लोग तरेखगो सोरङ्, कहते हैं। इस सरोवर से जो पानी तरेखगो के सामने की तरफ निकलता है, वह वंगर है और जो इसके पृष्ठ भाग की तरफ निकलता है, वह पिनगर यानी पिन-खड्ड

है। पिनगर स्पीति की सबसे खूबसूरत पिन उपत्यका से बहती हुई अत्तरगु के निकट सिलुक के स्थान पर स्पीति के साथ मिलती है।

वंगर तथा पिनगर के सम्बंध में इस क्षेत्र में एक रोचक दन्तकथा प्रचलित है। इसके अनुसार कहा जाता है कि वंगर तथा पिनगर दोनों रिश्ते में भाई लगते हैं। इनमें पिनगर बिना माँ-बाप के है, जबकि वंगर के माता-पिता जीवित हैं। इन दोनों ने अपने मूल उद्गम स्थल से चलने से पहले आपस में एक समझौता किया था कि जो वंगतु संगम स्थल पर पहले पहुँचेगा वह ज़ङ-ती यानी सुवर्णनद (सतलुज) से मिलकर स्वयं भी ज़ङ-ती (सुवर्ण जल) बन जायेगा।

वंगर सनाथ होने के नाते आगे-पीछे भी सदैव जोश से भरा रहता था। जब वह चला तो बाकायदा घोड़े पर सवार हो, अपने सभी अट्ठारह प्रकार के परम्परागत बाजे-गाजे के साथ, पूरे जोशो-खरोश के साथ चला। पिनगर की अपेक्षा वंगर के लिए वंगतु संगम स्थल बहुत दूर नहीं था। इसलिए उसे वहाँ पहुँचने की कोई जल्दी भी नहीं थी। उसे यह भी विश्वास था कि पिनगर इतना लम्बा सफ़र तय करके वंगतु संगम स्थल पर किसी भी हालत में उससे पहले नहीं पहुँच सकता है। इसलिए वह अपने उद्गम स्थल से ही मस्त होकर धीरे-धीरे चला। वंगर के उत्साह को देखकर, उसके परम्परागत वाद्ययन्त्रों को बजानेवाले बजन्तरी भी अपने वाद्ययन्त्रों पर विभिन्न किन्नौरी लोक-गीतों की धुनें बजाकर, उसे बार-बार अपने घोड़े पर ही झूमने के लिए विवश कर रहे थे। इस नाच-गान में वंगर इतना मस्त हो गया कि उसे यह भी पता नहीं चला कि समय तेज़ी से उसके हाथ से निकला जा रहा है।

पिनगर अनाथ होने के नाते सदैव कई प्रकार की चिन्ताओं में डूबा रहता था। इस कारण आगे-पीछे भी वह चुप-चुप ही रहता था। वंगतु संगम पर पहुँचने के लिए उसे लम्बा सफर तय करना था। इस कारण उसे वंगतु पहुँचने की चिन्ता भीतर तक खाये जा रही थी। इसलिए चुप-चाप अपने उद्गम स्थल से ही वह तेज़गति से चला। अत्तरगु के निकट सिलुक के पास उसकी मुलाकात स्पीति से हुई। स्पीति ने उसका हाल-चाल पूछा। वह अधिक कुछ नहीं बोलकर, तेज़ गति से ही चलने लगा। मार्ग में कई बार स्पीति ने उसे धीरे-धीरे चलने के लिए कहा, किन्तु उसने अपनी गति धीमी नहीं की। स्पीति के साथ चलते वह किन्नौर की हङ्रङ् उपत्यका में पहुँचा। खाब में उसका तथा स्पीति का मिलन सतलुज से हुआ। यहाँ से आगे भी वह बिना रूके तेज़ गति से ही चलता रहा। जब वह वंगतु पहुँचा तो वंगर अभी तक वहाँ नहीं

पहुँचा था। इधर-उधर देखा, वंगर उसे कहीं नहीं दिखा। वंगर के आने के रास्ते में दूर ऊपर कहीं बाजे-गाजे की आवाज़ आ रही थी, उसे ऐसा लगा जैसे वहाँ मेला लगा हो। अब उसे मालूम हुआ कि वंगर इतने निकट से भी अब तक संगम स्थल पर क्यों नहीं पहुँच पाया। समझौते के तहत वह बाजी मार चुका था। अब उसे ज़ङ-ती से मिलकर ज़ङ-ती बनने से कोई रोक नहीं सकता था। थोड़ी देर वह संगम पर रुका, फिर ज़ङ-ती के साथ मिलकर स्वयं भी ज़ङ्-ती बन कर वहाँ से आगे चल पड़ा।

जब वंगर ने ऊपर से पिनगर को ज़ङ्-ती (सुवर्णनदी=सतलुज) के साथ मिलकर संगम स्थल से आगे जाते देखा तो वह बुरी तरह से क्रोधित हो उठा। उसने क्रोधित स्वर में अपने लोगों को बाजा-गाजा बन्द करने को कहा। गुस्से से लाल-पीला हो कर वह अपने घोड़े से नीचे उतरा और तेज़ी से दौड़ता हुआ पिनगर के पेट से ऐसा जा टकराया कि उसका पेट ही फाड़ डाला। पिनगर की एक ही चीख निकली और इसी के साथ उसके प्राण पखेरू उड़ गये। इसके बाद वंगर भी वहाँ से आगे गुमसुम हो कर चला।

कहते हैं, आज भी वंगर अपने उद्‌गम स्थल से नीचे चलता है तो खूब शोर मचाता हुआ चलता है, किन्तु जैसे-जैसे यह सतलुज के निकट पहुँचता जाता है तो उसकी आवाज़ भी गुम होती जाती है।

वंगर में अब पहले की तरह पानी नहीं रहा है, क्योंकि इसके अधिकांश पानी को संजय विद्युत परियोजना के लिए सुरंग के रास्ते ले जाकर वंगतु पुल से ढाई कि. मी. आगे से बाहर निकाल कर सतलुज में गिराया गया है।

वंगर ने अतीत में जब-जब अपना रौद्र रूप धारण किया है, तब-तब इसने सतलुज को न केवल पार ढकेला है, बल्कि उसे अपना रास्ता बदलने के लिए भी विवश किया है। वंगर के इसी स्वभाव को देखकर ही स्थानीय लोगों में इन दोनों के प्रति यह मान्यता बनी कि इनमें वंगर पुरुष और सतलुज स्त्री है। इसीलिए जब कभी इन दोनों में किसी बात को लेकर खट-पट होती है तो वंगर सतलुज पर भारी पड़ता है। कहते हैं, सतलुज भी वंगर की नस-नस से परिचित है। उसे यह भी मालूम है कि वंगर का गुस्सा बहुत देर तक नहीं टिकता है, इसलिए वंगर का क्रोध शांत होते ही सतलुज अपने पुराने रास्ते पर चली आती है।

भावा उपत्यका संकरी अवश्य है, किन्तु घने जंगलों वाला क्षेत्र है। इसमें कड़गाँव, हुरी, क्रावा, यंगपा, काफनु आदि नौ गाँव आते हैं। यह भावा महेश्वर का अधिकार क्षेत्र है। वही यहाँ के असली शासक हैं। इनका अधिकार क्षेत्र

भावा ही नहीं, बल्कि वंग खागो के दूसरी तरफ पिति बल्दर का क्षेत्र भी है। भावा उपत्यका हमस्कद भाषी क्षेत्र है।

वंगतु तक सतलुज को बरसात के मौसम में भी सूखे में ही आना पड़ता है, क्योंकि किन्नौर में यहाँ तक का क्षेत्र रेन ज़ोन (Rain Zone) से बाहर का क्षेत्र है; इसलिए इस क्षेत्र में वर्षा ऋतु में भी वर्षा नहीं होती है। यदि होती भी है तो बहुत कम। वंगतु के बाद के क्षेत्रों में पर्याप्त वर्षा होती है। इन क्षेत्रों के किसानों को अपने खेतों में सिंचाई करने की आवश्यकता नहीं होती। जबकि कल्पा तथा पूह उपमंडल के किसानों को सिंचाई की आवश्यकता होती है।

वंगतु का महत्त्व किन्नौर के लिए अतीत से चला आ रहा है। निचार तथा इसके आस-पास के क्षेत्रों के लोगों का वार्षिक ज़तरू-मेला परम्परा से आयोजित होता रहा है। सतलुज के आर-पार के लोगों के लिए इस पर बना एक मात्र ज़ङ्छम यानी सुवर्ण (नद) पुल अतीत में दोनों तरफ के लोगों के लिए मानो जीवन-रेखा जैसा था। सतलुज को पार करने के लिए कहीं से भी वंगतु आना ज़रूरी था। इसीलिए किन्नौर में आज भी जब घूम-फिर कर किसी एक ही जगह पर पहुँचना पड़ता है तो लोग 'हण्डे फिरे वंगतु पक' यानी 'घूम-फिर कर वंगतु ही पहुँचा' ऐसा कहते हैं। राजकाल में बने वंगतु पुल (जो अब नहीं है) का वर्णन किन्नौर के कई लोकगीतों में भी हुआ है। बडसेरी क्षेत्र के उतरैणी देवकार गीत में तो वंगतु पुल के निर्माण के समय का भी ज़िक्र हुआ है। जैसे–

(क) *वंगतु ले ज़ङ्तु राज़ो ज़ङ्छम थिनो।*
हो-हो लोशो तिश खुनङ्
सोतिङ् पूरेयो, शंक्रेटेया।

अनुवाद

वंगतु-ज़ङ्तु, (सतलुज) पर राजपुल बिछा रहे।
हो-हो बोल रहे, सात खूँद के सब लोग।
शक्ति पूरा कर रहे, शंकर (महेश्वर)।

(ख) *बेथा रङ् बेथोनी, दङ शोङ्-शोङ् बीमा।*
दङ शोङ्-शोङ् बीमा, वंगतु न ज़ङ्तु।
वंगतु न ज़ङ्तु, ज़ङ्छमु देन शोङ।
ज़ङ्छमु देन शोङ्, डेस-मा डेस रेपग्यो।
डेस-मा डेस रेपग्यो, नेस नङ् लो ख्याओ।
नेस नङ् लो ख्याओ, जु हतु लनशिद।

जु हतु लनशिद मलोन, लनशिद अंरेसु।
लनशिद अंरेसु, नामङ् महाराजु।

अनुवाद

बेथा और बेथनी, वहाँ से नीचे-नीचे गये।
वहाँ से नीचे-नीचे गये, वंगतु-ज़ङ्तु।
वंगतु-ज़ङ्तु, सुवर्ण (नद) पुल पर।
सुवर्ण (नद) पुल पर, अचंभित हो खड़े।
इस ओर से उस ओर देख रहे।
यह किसने बनाया, किसने बनाया न कहें।
बनाया फिरंगी ने, नाम महाराज का।

वंगतु पुल के बाद सतलुज के बायें तट पर निचार के छोत कंढे से आनेवाली छोत खड्ड इसमें मिलती है। इसी खड्ड से निचार की सीमा शुरू होती है। निचार की सीमा के भीतर पहुँचते ही सतलुज को लोगों की खूब खरी-खोटी सुननी पड़ती है। लोग इसके बारे में न जाने क्या-क्या कहते हैं। इसके नाम पर कई तो अपनी नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं और कई इसे निचार क्षेत्र की सुन्दर-सुन्दर लड़कियों को भरी जवानी में सम्मोहित कर, कभी एक तो कई बार दो-दो, तीन-तीन के समूह में खुशी-खुशी घर से निकलकर, कान में फूल, मुख में गीत के बोल के साथ, एक-दूसरे का हाथ पकड़ कर जल-धार में कूदकर डूब मरने के लिए विवश करनेवाली हत्यारिन तक भी कह डालते हैं। यह सही है कि 31 जुलाई, 2000 को प्राकृतिक कारणों से जब यह बेहद क्रुद्ध हुई थी तो इसने जड़-चेतन जो भी सामने आया, सबको अपने साथ बहा लिया था। साथ ही, यह भी कि इसके तटों पर ग़लती से इसकी चपेट में आनेवाले या गृहकलह के कारण या प्रेम में धोखा खाने के कारण इसमें कूदनेवाले या किसी दुर्घटनावश इसके प्रवाह में पड़नेवाले, चाहे वे वृद्ध हों या युवा, यह नदी सभी को बिना किसी भेद-भाव के, अपने साथ बहा ले जाती रही है। किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि यह हत्यारिन है।

इस पर लाँछन वही लोग लगाते हैं जो असलीयत से बेखबर हैं। किन्तु जो लोग असलीयत से बाखबर हैं, उन्हें यह अच्छी तरह मालूम है कि उक्त प्रकार के कृत्यों को अंजाम देनेवाली पवित्र नदी सतलुज नहीं है, बल्कि निचार क्षेत्र के अन्तर्गत शूराधार जगह के पास इसके पथ में बायीं तरफ आनेवाली, सतलुज के बीच बड़ी-बड़ी चट्टानों के ढेर पर वास करनेवाली,

बलिनन्दन बाणासुर तथा हिरमा (हिडिम्बा) की पिरासन नाम की सबसे छोटी, वह दुर्दान्त कुलछणी बेटी है, जो निचार क्षेत्र में 'युग-से' (नीचेवाली) तथा 'तियो-से' (नदीवाली) के नाम से कुख्यात है। लोक धारणा है कि यह निचार क्षेत्र की सुन्दर-सुन्दर लड़कियों को अपनी आसुरी माया से सम्मोहित कर अपने निवास क्षेत्र के आस-पास तक बुलाकर, वहाँ उनका जीवन हरण करनेवाली ही नहीं है, बल्कि हर किसी शरीफ ग्राम-देव को अपने प्रेम-जाल में फँसानेवाली भी रही है। इसने न केवल निचार के ग्रडे नागदेव को ही अपने प्रेम जाल में फँसाया, बल्कि निचार से दूर जा कर उरणी गाँव के बड़े ग्राम-देव नरेणस को भी फँसाया है।

कहते हैं कि यह अपने प्रेम-जाल में फँसाने के बाद मौका देखकर धोखा देने में भी माहिर है। ग्रडे नागदेव के साथ इसने ऐसा ही किया। पहले बीच सतलुज में चट्टानों के ढ़ेर पर, हर समय अकेली रहती हुई थक गई थी तो इसने ग्रडे नागदेव के भोलेपन का फायदा उठाकर उन्हें अपने प्रेम-जाल में फँसाया और जब उनसे इसका जी भर गया तो इसने उरणी नरेणस देव पर अपना मायावी प्रेम-जाल फेंकना शुरू किया। नरेणस देव इसके प्रेम-जाल में जब बुरी तरह फँस गये तो एक दिन यह ग्रडे नागदेव को अकेला छोड़, नरेणस देव के साथ उरणी भाग गई। उरणी गाँववालों को जब यह मालूम हुआ कि उनके बड़े ग्राम-देव नरेणस उक्त कुलछणी को अपनी लोगिन बनाकर अपने साथ रख रहे हैं तो गाँववालों ने स्थानीय परम्परानुसार एक बकरे की बलि देकर इसको बाकायदा अपने ग्राम-देव नरेणस की लोगिन यानी पत्नी स्वीकार कर देवालय में स्थापित कर लिया। किन्तु जब इसने वहाँ भी गाँववालों को तंग करना शुरू किया तो बड़े ग्राम-देव नरेणस के न चाहने पर भी ग्रामवासियों ने अपने छोटे ग्राम-देव नागस के साथ मिलकर, इसे उरणी से बाहर का रास्ता दिखा दिया। कहते हैं, इधर इसने ग्रडे नागदेव को फिर से पटा लिया है और उनके साथ गुपचुप रह रही है।

इस कुलछणी से निचार क्षेत्र के लोग ही दुःखी नहीं हैं, बल्कि निचार पर राज करनेवाली इसकी 'मजुवङ् दायी' यानी मँझली दीदी उषा भी दुःखी हैं। उषा दीदी ने तो अपने क्षेत्र में इसका नाम लेने पर भी पाबन्दी लगा रखी है। अतीत में जब इसने निचार क्षेत्र में बहुत आतंक मचाया तो उषा दीदी को विवश होकर अपने 'पटोलिचु नलचे' यानी समतल क्षेत्र निचार की तीन दिशाओं में एक-एक स्तूप की स्थापना करानी पड़ी थी। इससे उसके कुकृत्य पर कुछ अंकुश अवश्य लगा, किन्तु बिल्कुल बन्द नहीं हुआ। इसके कुकृत्य

पर भारी अंकुश तब लगा जब सन् 1992 में रिकाँगपिओ में श्रीकालचक्र का अभिषेक प्रदान करने के लिए पधारते समय परम पावन दलाई लामा जी ने निचार क्षेत्र के आम लोगों के विनम्र निवेदन पर कुछ समय शूराधार क्षेत्र में रुककर इसे प्रतिज्ञाबद्ध किया था। इसके बावजूद बीच-बीच में यह अब भी अपने कुकृत्य को अंजाम देने से बाज नहीं आती है।

सुंगरा क्षेत्र की दन्तकथानुसार यह वही कुलछणी है जिसे ग्रोसनम (सुंगरा) के बड़े थानङ् क्षेत्र में स्थित बागुरी पन (बागुरी शिला) पर, पिता बाणासुर की जागीर का बंटवारा करते समय, सभी भाई-बहिनों के सामने, उनकी बड़ी दीदी, वर्तमान कोठी देवी ने, पहले नदपा चट्टानी क्षेत्र पर राज करने का अधिकार दिया था। किन्तु नदपा क्षेत्र की प्रजा के साथ इसने देव परम्परानुसार व्यवहार न कर आसुरी व्यवहार किया, जिस कारण इसे उक्त क्षेत्र के शासक पद से अपदस्थ कर दंड स्वरूप मात्र वास करने के लिए सतलुज के मध्य उक्त चट्टानी क्षेत्र दिया गया था। इस बात का प्रमाण आज भी सुंगरा-निचार क्षेत्र में प्रचलित देवगीत की ये पंक्तियाँ हैं—

हतु ले वङेश हो, पनछोली चु नदपा, हतुले बङेश।
वङ ले बङेश हो, जो कोनसङ् रिङ्जेचु वङ् ले बङेश।
कीस मनेग्योइँ हो, पोरज़ा रङ् खेलेन, कीस मनेग्योइँ।
ठोरेस शेदो हो, गंगा ज़ोल पानीचो, ठोरेस शेदो।
की तोशिरइँ हो, गंगा ज़ोल पानीचो, की तोशिरइँ।
कीन रङ् कोनेस हो, रूङरग रङ् डावोरङ्, कीन, रङ् कोनेस।

अनुवाद

किसको अधिकार दिया, चट्टानी नदपा क्षेत्र।
अधिकार तो दिया, सबसे छोटी बहिन को।
आपने न जाना, प्रजा के साथ व्यवहार।
गिरा डाल रहे, गंगा यानी सतलुज जल में।
आप रहे, गंगा यानी सतलुज जल में।
आपके साथ, साथी हैं, चट्टानी ढेर तथा डबर।

नदपा गाँव के नीचे सतलुज के दायें तट पर 'नदपा बोक-तीच़' नाम से ख्यात गर्म पानी का चश्मा नदी में मिलता है। इस चश्मे को नदपा के ग्राम नागदेव के छोटे भाई का मानते हैं। इसलिए इस पर उन्हीं का अधिकार रहता है। अतीत में भेड़ पालक अपनी बकरियों को कई प्रकार की बीमारियों से बचाने के लिए, इस चश्मे के पानी में नहलाते थे। इस गर्म चश्मे के अतिरिक्त

सतलुज के दायें तट पर राष्ट्रीय उच्च मार्ग-22 के साथ, रारङ् के नीचे स्थित ठोपोन, करछम, टापरी से पहले सुलडिङ् और टापरी में भी गर्म पानी के चश्मे हैं। ठोपोन स्थित गर्म चश्मे को भोटी पंचांग के अनुसार भादों महीने के आखिरी दिनों में उदित होनेवाले ऋषि नामक सात दिवसीय नक्षत्र विशेष में कई प्रकार की व्याधियों की औषधि माना जाता है। इसलिए उस नक्षत्र में किन्नौर के दूर-दूर के गाँवों से लोग आकर, इसके आस-पास सात दिनों तक डेरा डालकर इसके पानी में स्नान करते हैं। ठोपोन तथा नदपा के गर्म चश्मों का वर्णन किन्नौर के कई लोकगीतों में भी आया है। लोक मान्यतानुसार यह भी कहा जाता है कि इन चश्मों के पानी से तापमान गर्म रहता है, जिसके कारण सतलुज के तटों पर कुछ ऐसी विशेष वनस्पतियाँ उत्पन्न होती हैं, जो गर्म तापमानवाले क्षेत्रों में उगती हैं। इसके अलावा सतलुज तथा इसकी कुछ सहायक नदियों में सैंकड़ों वर्ष से बर्फ़ के नीचे दबे रहकर बननेवाले हीर कंकर यानी हीरे के कंकड़ भी कभी-कभी बहकर आते देखे गए हैं। साथ ही सतलुज में सुवर्ण-कण भी बह आते हैं। इसीलिए किन्नौर के लोग इसे ज़ङ्-ती यानी सुवर्णनदी कहते हैं।

नदपा के पास सतलुज पर एशिया की सबसे बड़ी नाथपा-झाखड़ी विद्युत परियोजना का बाँध बन जाने के कारण 29 सितम्बर, 2003 के बाद यहाँ से आगे शिमला जिला के झाखड़ी तक 27 कि.मी. सतलुज को अब अपना रास्ता छोड़कर सुरंग के रास्ते जाना पड़ता है। इस बाँध स्थल के बाद सतलुज के दोनों तटों पर पहले सतलुज में मिलनेवाली खड्डें ही अब सतलुज के रास्ते झाखड़ी पहुँचकर मूल सतलुज में मिलती हैं। किन्नौर की अंतिम सीमा चौरा तक सतलुज में दायें तट पर सोलारिङ्, शोरङ् तथा रूपी खड्ड और बायें तट पर सोलडङ्, छोनड़े तथा कणलु खड्डें मिलती हैं। सतलुज की बायीं तरफ स्थित उषा देवी का निचार, सुंगरा महेश्वर का सुंगरा, चित्ररेखा का तरंडा और हिरमा देवी का चौरा अधिकार क्षेत्र है। सुंगरा महेश्वर अट्ठारह बीश खूँद (परगने) के बड़े देवता हैं।

किन्नौर के कल्पा तथा निचार उपमंडल दोनों ही ग्राम-देवता की प्रधानतावाले क्षेत्र हैं। इन दोनों उपमंडलों में बौद्ध-विहार का वर्चस्व ग्राम-देवता की अपेक्षा कम है। इसके मायने यह नहीं हैं कि इन क्षेत्रों में लोग बौद्ध धर्म को नहीं मानते हैं। इन क्षेत्रों में बौद्ध-विहार तथा बौद्ध भिक्षु, जोमो, उपासक-उपासिकाएँ भी हैं। स्व. गेशे पल्दन सेंगे जो खदुरा गेशे रिनपोछे के नाम से विख्यात रहे हैं, उनके द्वारा स्थापित 'छोस खोर लिङ् गोन्पा' कल्पा

उपमंडल के अन्तर्गत ब्रेलिंगी में है, जहाँ स्थानीय विद्यार्थियों को स्व. गेशे रिनपोछे जी के योग्य शिष्य गेशे तन्ज़िन डक्पा (शासनधर कीर्ति) के दिशा-निर्देशन में बौद्ध धर्म-दर्शन की परम्परागत शिक्षा प्रदान की जाती है। पूरे किन्नौर में एक मात्र 'छोस-खोर-लिङ्-गोन्पा' ही है, जहाँ भगवान बुद्ध द्वारा स्थापित वर्षावास की परम्परा आज भी चलती है। इसके अलावा बौद्ध महासभा द्वारा स्थापित बौद्ध विहार भी उक्त ब्रेलिंगी क्षेत्र में ही है, जहाँ सन् 1992 में परमपावन दलाई लामा जी ने श्रीकालचक्र का महा अभिषेक प्रदान किया था।

शिप्की से लेकर चौरा तक 130 कि.मी. की लम्बी यात्रा में ढेर सारे खट्टे-मीठे अनुभवों के साथ सतलुज किन्नौर की अंतिम सीमा चौरा से (समुद्र तल से 1250 मी. की ऊँचाई पर) शिमला की रामपुर तहसील में प्रवेश करती है। चौरा से नीचे किन्नौरवालों के लिए 'कोचा' मुल्क है। अब इसके बाद इसी कोचा मुल्क में इस नदी की यात्रा होती है। किन्नौर की अंतिम सीमा पर बाणासुर की पत्नी हिरमा देवी, जो चौरा क्षेत्र की ग्राम-देवी है, ढेर सारी शुभकामनाओं के साथ सतलुज को रामपुर की सीमा में प्रवेश कराती है।

ऋग्वेद में इन्द्र को वृत्रहन्ता कहकर, उसकी बड़ी स्तुति की गई है, क्योंकि उसने नदियों के प्रवाह को सीमित करनेवाले वृत्र यानी 'अहि' को मारकर न केवल नदियों को प्रवाहयुक्त बनाया था, प्रत्युत् उनके मार्ग भी निश्चित किये थे, किन्तु किन्नौर क्षेत्र में प्रचलित एक कथानुसार सतलुज का मानसरोवर से किन्नौर की अंतिम सीमा तक पथ प्रदर्शन करनेवाला इन्द्र नहीं, बल्कि कामरू नरेश देवपूर्ण का सेनापति बाणासुर था। वह शायद मानसरोवर नहीं जाता, यदि कामरू के दरबारी उससे ईर्ष्या नहीं करते। वह उनसे खिन्न होकर मानसिक शान्ति के लिए कामरू छोड़ मानसरोवर पहुँचा था।

तब भी, वह शायद सतलुज को न लाता यदि उसने मानसरोवर झील में विभिन्न क्षेत्रों से आनेवाले विभिन्न रंगों के जलों को परस्पर संघर्ष करते न देखा होता। उसने जब उन्हें इस तरह संघर्षरत देखा तो उससे रहा नहीं गया। वह वर्षों सेनापति रहा था, इसलिए वह यहाँ भी आगे आया और उन संघर्ष कर रहे जलों को समझाने का प्रयास किया, ताकि उनमें सुलह हो सके। किन्तु जब वे इसके लिए तैयार नहीं हुए तो उसने उनका विभाजन ही एक मात्र हल मानकर, उनको विभाजित कर झील से बाहर करने का निश्चय किया। उसने पीले रंग के जल (ब्रह्मपुत्र) को झील से निकल कर पूर्व दिशा की ओर जाने तथा लाल रंग के जल (सिन्धु) को पश्चिम दिशा की ओर जाने

और नीले रंग के जल (सतलुज) को अपने पीछे-पीछे आने का आदेश दिया और स्वयं उसके आगे चलता हुआ शिप्की पहुँचा। वहाँ से वह दक्षिण दिशा की ओर निकला। अपने पूर्व के स्वामी (देवपूर्ण) के राज्य की सीमा करछ़म से पश्चिम दिशा में मुड़कर लगभग 80 कि.मी. और आगे जा कर, उसने सतलुज को समुद्र तक पहुँचने के लिए अपना रास्ता स्वयं खोजने का आदेश दिया और स्वयं शोणितपुर नाम से वर्तमान सराहन में अपनी राजधानी स्थापित कर अपना राजपाट चलाने लगा।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, किन्नौर के थोड़े से क्षेत्रों को छोड़कर अन्य सारे क्षेत्र रेनज़ोन (Rainzone) से बाहर होने के कारण वर्षा ऋतु में भी वर्षा से वंचित रहते हैं। इसलिए लोगों को अपने खेतों तथा बाग-बागीचों की सिंचाई के लिए अपने क्षेत्रों में बहनेवाली खड्डों, कूहलों पर निर्भर रहना पड़ता है। किन्नौर में सतलुज के दोनों तरफ स्थित लोगों के खेत तथा बाग-बागीचे ऊँचाई पर होने के कारण सतलुज के पानी से वंचित हैं। इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि देश तथा प्रदेश के विकास में इसकी कोई भूमिका नहीं है। इस पर तथा इसकी सहायक नदियों, खड्डों पर स्थापित अनेक विद्युत परियोजनाओं के माध्यम से ये क्षेत्र जितनी सेवा देश तथा प्रदेश की कर रहे हैं, उसे किसी भी तरह नज़रअन्दाज़ नहीं किया जा सकता।

कृषि तथा बागवानी की दृष्टि से किन्नौर के लोगों के लिए सतलुज भले ही काम न आये, किन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से इस क्षेत्र के लोगों के लिए यह बहुत महत्त्व रखती है। इस क्षेत्र में जन्म से लेकर मृत्यु तक कितने ही ऐसे संस्कार हैं, जो प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से इसी सतलुज के साथ जुड़कर सम्पन्न किए जाते हैं। इसीलिए किन्नौरी समाज के लिए यह 'ज़ङ-ती' है, गंगा पानी है; सोमोद्रङ् है।

सन्दर्भ

1. J.H. Dave : Immortal India - Vol. 4, Bharatiya Vidya Bhavan, Bombey, 1961
2. Mamgain, M.D. : Himachal pradesh District Gazetteers : Kinnaur, 1971
   Mamgain, M.D. : Himachal pradesh District Gazetteers : Lahul & Spiti. 1975.
3. Gerad Capt. Alexander : Account of Koonawur, Indus Publishing Company, New Delhi (Reprint) 1993.
4. Bajpai, S.C. : Kinnaur (A Remote Land in the Himalaya) Indus Publishing Company, New Delhi, 1991.
5. Shakabpa, Tsepon : Tibet: A Political History, New Haven and London Yale University Press, 1967.
6. सांकृत्यायन, राहुल : ऋग्वैदिक आर्य, किताब महल, इलाहाबाद तथा दिल्ली, 1957।
7. सांकृत्यायन, राहुल : बुद्धचर्या, महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस, द्वितीय सं., 1952।

8. नाथ, कृष्ण : किन्नर धर्मलोक, सातवाहन पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 1983।
9. सांकृत्यायन, राहुल : किन्नर देश में, किताब महल, 22-ए, सरोजनी नायडू मार्ग, इलाहाबाद, 1998।
10. पाण्डेय, आचार्य गोपाल दत्त : (परिष्कर्ता)-स्कन्दपुराणान्तर्गतः मानसखण्ड, अ.-9; श्री नित्यानन्द स्मारक समिति, वाराणसी, 1989।
11. सिंह, मियाँ गोवर्धन : हिमाचल प्रदेश का इतिहास, अ. 9; मै, रिलायेन्स पब्लिशिंग हॉऊस, नई दिल्ली, 1986।
12. यास्क : निरुक्त (भाष्य सहित) –9/26........।
13. गोविन्द, लामा : किन्नौर के तीर्थ्-महातीर्थ सोमाङ्, पालयुल विहार प्रकाशन, बीड़ कांगड़ा हि.प्र. 1989।
14. महाभारत : चैत्ररथ पर्व, अ. 175-177; ओरियन्टल बुक्स रिप्रिन्ट कोरपोरेशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 1979।
15. ऋग्वेद : (3-33-1; 3-33-6; 10-75-4) वसन्त श्रीपाद सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, बलसाड, 1985।
16. नेगी, विद्यासागर : महानुवादक रत्नभद्र; प्रथम संस्करण, हिमाचल कला संस्कृति भाषा अकादमी, शिमला 1996।
17. रिनपोछे प्रोफेसर एस. : बौद्ध वाङ्मय में कैलास-मानसरोवर (लेख) स्मारिका, कैलास मानसरोवर : भारत-तिब्बत मैत्री संघ, वाराणसी, 25 नवम्बर, 1997।
18. शास्त्री, भिक्षु एल.एन. : तिब्बती वाङ्मय में कैलास-मानसरोवर, (लेख) स्मारिका, कैलास मानसरोवर; वही।

लोक भाषिक परम्पराओं तथा अन्य सूचनाओं क लिए निम्न लोगों से साक्षात्कार लिय गये–

(क) सेंगे गेशे पल्दन : (अब स्वर्गीय) छोस खोर लिङ् गोनपा, ब्रेलिंगी किन्नौर (साक्षात्कार वर्ष 1996)।
(ख) भिक्षु, तन्ज़िन डक्पा, : छोस खोर लिङ् गोनपा, ब्रेलिंगी किन्नौर।
(ग) अनि कृष्णा : ठोलङ् किन्नौर।
(घ) नेगी सुजान सिंह, आसरंग किन्नौर।
(ङ) नेगी, मधुसूदन : रिस्पा, किन्नौर।
(च) नेगी, देवी सिंह चारस : आसरंग, किन्नौर।
(छ) नेगी, होरमोन दासी : हुरी, भावा किन्नौर।
(ज) नेगी, फुलमा देवी : हुरी भावा, किन्नौर।
(झ) नेगी, जय देवी : पूज़े, निचार, किन्नौर।
(ञ) नेगी, कुनडा देवी : ग्रोसनम, किन्नौर।
(ट) नेगी, नोरज्ञानी : निंगानी, निचार, किन्नौर।
(ठ) नेगी, रामकुमार : रकछम, किन्नौर।
(ड) नेगी, पद्मादोर्जे : खंगसर, यंग-पा, भावा, किन्नौर।
(ढ) नेगी, छेरिंग डुबग्या : नेसङ् किन्नौर।
(ण) नेगी, उर्मिला : मेबर, किन्नौर।

(त) नेगी, भोगान सिंह : गरादे निचार, किन्नौर।

(थ) नेगी, फुरबु डोलमा : ठंगी, किन्नौर।

(द) नेगी, रामराज पाल सिंह : (अब स्व.), साँगला, किन्नौर।
(साक्षात्कार तिथि : 16–5–1994)

पृष्ठ 49 की पाद-टिप्पणियाँ

1. शुतुद्री = शु+द्राविणी = क्षिप्र+द्राविणी = शीघ्र बहने वाली। शु+तु+द्रु = आशु+तुन्नेव+द्रवति = शीघ्र बन्धी हुई के समान बहती है।
2. परुष्णी = पर्ववती (भास्वती) कुटिलगामिनी=पर्वों वाली, भासों वाली, कुटिल गामिनी।
3. असिक्नी = अशुक्ला, असिता = नहीं श्वेत। सितमिति वर्णनाम्। तत्प्रतिषेधोऽसितम्। सित यह वर्ण=रंग का नाम है। उसका प्रतिषेध असित है।
4. विपाट् (विपाशा) = आर्जीकीया–आर्जीकीयां विपाडित्याहुः ऋजीक प्रभवा वा। ऋजुगामिनी वा। विपाड् विपाटनाद्वा। विपाशनाद्वा विप्रापणाद्वा। पाशा अस्यां व्यपाश्यन्त वसिष्ठस्य मुमूर्षतः। तस्माद् विपाडुच्यते पूर्वमासीदुरुञ्जिरा। आर्जीकीया को विपाट् कहते हैं (ज्योतिष आचार्य) ऋजीक (पर्वत) से निकली हुई अथवा ऋजु चलने वाली अथवा विपाट्=विशेष पाटन से भूमि को फाड़ती है। फांस से पृथक् कर देने से अथवा। विशेष प्राप्ति से अथवा।
फांस इसमें वि+अपाश्यन्त=विशेष खुल गईं वसिष्ठ की, मरने की इच्छा करते हुए की। इसलिए विपाट् कही जाती है। पूर्व (युगों में) थी उरुञ्जिरा नाम वाली।
5. वितस्ता = वितस्ता विदग्धा। विवृद्धा महाकुला। वितस्ता= नहीं दग्ध हुई। बढ़ती हुई, महाकूलों वाली।
6. सरस्वती = सर इत्युदकनाम। सर्तेस्तद्वती। सरस्वती, सरः यह उदक का नाम है। सर्ति से, उस उदक वाली।
7. सुषोमा = सिन्धु। जो इसकी ओर बही जाती हैं नदियॉं। सिन्धुः = स्यन्दन =बहने से।
8. इरावती = इरावतीं परुष्णीत्याहुः। इरावती को परुष्णी भी कहते हैं।
निरुक्त (भाष्यसहित) –9/26 पृ. 494–96।

सोमसी : जनवरी-जून, 2005 अंक से

कैलास पर्वत : किन्नौरी जीवन की आस्था

पी. एन. सेमवाल

हिमालय के भीतरी क्षेत्रों में शिमला से लगभग 140 मील दूर हिन्दुस्तान-तिब्बत मार्ग पर उत्तर-पूर्व दिशा में चिनी नाम का एक छोटा-सा गाँव है, जो पहले चिनी तहसील का मुख्यालय भी रहा। यह ऊँचे पर्वतों से घिरा समतल भाग है। इसके नीचे कुछ ही मीलों की दूरी पर समुद्रतल से 6,500 फुट पर सतलुज नदी चट्टानों व पत्थरों पर पूरे प्रवाह से अपना मार्ग बनाती हुई बह रही है। नदी से सीधा ऊपर व चिनी गाँव के सामने इस प्रदेश का सबसे उन्नत शिखर स्थित है, जो समुद्रतल से लगभग 22,000 फुट ऊँचा है। इसकी चोटियाँ निरंतर कई फुट बर्फ़ की पर्त से ढकी रहती हैं। सर्वेक्षण मान-चित्रों के अनुसार इसका नाम रॉक-कैसल अंकित किया गया है। यह एक अगम्य शिखर है, जो विशाल हिम-खंडों की चट्टानों पर स्थित होने के कारण किसी भी इनसानी कोशिश से अलंघ्य प्रतीत होता है। इसीलिए इसे रॉक-कैसल नाम दिया गया होगा।

रंग बदलनेवाली चट्टान

यहाँ के स्थानीय लोग इसे 'कैलाश' कहते हैं और इसे भगवान शिव का निवास मानते हैं। यह चिनी तहसील का सबसे पवित्र स्थान है। इसके साथ लोक प्रचलित कई दैवी चमत्कारवाली पौराणिक कथाएँ जुड़ी हैं। यह केवल भगवान शिव का निवास ही नहीं है जैसा कि नाम से प्रतीत होता है, बल्कि प्रचलित धारणा के अनुसार यहाँ स्वर्ग की राजगद्दी भी है, जहाँ से इन्द्र अन्य देवताओं पर राज्य करता है तथा पृथ्वीवासियों को धन-धान्य प्रदान करता है। इस ऊँचे हिम आच्छादित शिखर के समीप समुद्रतल से 19000 फुट की ऊँचाई पर 40 से 50 फुट ऊँची एक अद्भुत चट्टान खड़ी है। ऊँचाई पर अन्य चट्टानों से भिन्न होते हुए यह आकार में आयताकार है। यहाँ चट्टानें अधिकतर

त्रिभुजाकार या शंकु आकार की होती हैं, लेकिन यह उन्नत चट्टान अपने असल आकार व ऊँचाई के कारण आसपास की नुकीली चट्टानों से घिरी होने पर भी अलग दिखाई देती है।

इस चट्टान की सबसे विचित्र बात इसका दिन के समय रंग बदलने का स्वभाव है। सूर्योदय से पूर्व व सूर्यास्त के बाद इस का रंग आसपास की चट्टानों की तरह ही गहरा होता है। लेकिन जैसे ही सूर्योदय होता है, यह अपना रंग बदलने लगती है। पहले यह हल्के गुलाबी रंग की दिखती है और दोपहर तक इसका रंग हिमश्वेत दीखने लगता है। शनैः-शनैः फिर से यह गुलाबी रंग में परिवर्तित होने लगती है और सूर्यास्त के उपरांत यह पुनः अपने चट्टानी रंग में आ जाती है।

यह अद्‌भुत चट्टान स्वाभाविक रूप से यहाँ के सरल और आस्थावान लोगों के लिए बहुत आश्चर्य का कारण है। वे लोग इस सारे प्राकृतिक घटना-क्रम को किसी दैवी-शक्ति का चमत्कार समझते हैं, क्योंकि चट्टान एक ऐसी चोटी पर स्थित है, जो किसी भी दिशा से अगम्य है। इसलिए अभी तक वहाँ कोई भी नहीं पहुँच पाया है। वास्तव में अभी तक यहाँ पहुँचने का किसी पर्वतारोही ने प्रयास ही नहीं किया। केवल ग्रीष्म ऋतु में चरवाहे ही अपनी भेड़-बकरियों को आस-पास की तराई में ले जाते हैं। चरवाहों का कहना है कि नज़दीक से चट्टान अन्य चट्टानों जैसी ही दिखती है। कई यात्रियों द्वारा दूरबीन से देखने पर इसमें कोई विशेष अन्तर दृष्टिगोचर नहीं हुआ।

सामान्यतः यह माना जाता है कि यह स्फटिकीय रचना है और सूर्य की किरणों के विभिन्न कोणों में पड़ने के साथ ही पवित्र चट्टान रंग बदलती है। यदि आकाश बादलों से ढका हो तो यह चट्टान रंग नहीं बदलती और गहरे रंग की सामान्य चट्टान जैसी ही दिखाई देती है। बहु प्रचलित लोक धारणा के अनुसार यह चट्टान किसी दैवी चमत्कार का परिणाम है; जैसे किसी भी प्राकृतिक घटना व वस्तु को मान लिया जाता है। यह मान्यता है कि यह भगवान शिव की प्रतिमा है, जिसका निवास असंख्य आत्माओं व अन्य गणों के साथ आस-पास के ऊँचे पर्वतों और चट्टानों पर है। हर सुबह जब लोग सो कर उठते हैं तो श्रद्धा से कैलास को नमस्कार करते हैं। कैलास पर्वत की दिशा भी पवित्र समझी जाती है और कोई भी दूषित व अपवित्र कार्य इस दिशा की ओर नहीं किया जाता। सोते समय भी इस बात का ध्यान रखा जाता है कि पवित्र कैलास की ओर पाँव न किए जाएँ।

गाँव के देव, पहाड़ी आत्माएँ और जंगल की देव-शक्तियाँ श्रद्धा सहित

कैलास पर तीर्थ यात्रा को जाते हैं। इसीलिए यहाँ के स्थानीय लोगों के लिए कैलास की रंग बदलनेवाली चट्टान अदृश्य शिव का प्रतिनिधित्व करती है और यह लोगों के मन में आस्था जगाती है। वे अपने संकट व दुःख में ईश्वर की मदद या आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए इस पवित्र दिशा की ओर सांकेतिक रूप में भोज्य पदार्थ, पुष्प, जल व मदिरा अर्पित करते हैं। किसी भी सामाजिक व धार्मिक पर्व के समय कैलास की पूजा व भेंट का सर्वोच्च स्थान होता है। कैलास की चोटी व शिव की प्रतिमा अगम्य है, इसलिए पर्वत के निचले भाग की परिक्रमा करके ही तीर्थयात्रा पूर्ण हो जाती है। यह यात्रा लम्बी, कठिन व दुःसाध्य है। पर्वत का चक्कर लगाने में सात से दस दिन का समय लग जाता है। कई स्थानों पर यात्रा का मार्ग काफी ऊँचाई से गुज़रता है, जहाँ पर दूर-दूर तक कोई नहीं रहता। इसलिए तीर्थ यात्रियों को खुले में या किसी गुफा में रात व्यतीत करनी पड़ती है। लेकिन भक्तजन मार्ग की कठिनाइयों की भी परवाह नहीं करते, क्योंकि भगवान का कृपा-पात्र होना बिना संघर्ष व कष्ट के असंभव ही है। चिनी, रामपुर और रोहड़ू तक से लोग समूह में इस पवित्र यात्रा के लिए आते हैं। यह तीर्थ यात्रा आत्म-शुद्धि, भौतिक सुख, संतान प्राप्ति, परेशानियों और शारीरिक कष्टों से मुक्ति की कामना से की जाती है।

पवित्र तीर्थ यात्रा

माघ संक्रान्ति के दिन जब किन्नौर की सारी धरती बर्फ़ की मोटी सतह के नीचे होती है तो चिनी तहसील में गाँव की अदृश्य आत्माएँ कैलास पर शिव के आसन के पास लगनेवाले इन्द्र देवता के दरबार में उपस्थित होती हैं। किन्नौर में यह मान्यता प्रचलित है कि किन्नर-कैलास पर शिव की अध्यक्षता में किन्नौर के ग्राम-देवताओं का 'पाशा खेल' होता है और 'पाशा खेल' के प्रदर्शन के आधार पर ग्राम-देवों को अपने-अपने क्षेत्र के लिए फसल आदि मिलती है। ग्राम-देवता पवित्र स्थान पर आयोजित देव-सभा में आनेवाले वर्ष के लिए इन्द्रदेव से अच्छी फसल की माँग करते हैं। लोक धारणा के अनुसार देव-गण इन्द्र के दरबार में लगभग एक पक्ष तक रहते हैं। इस दौरान स्वर्ग का राजा, हर ग्राम के लोगों के लिए उनके देवताओं में, आगामी वर्ष के लिए अन्न, फल-सब्जियों व अन्य वस्तुओं का वितरण करता है। यह मान्यता है कि देवताओं का इन्द्र के दरबार में संवाद होता है और हर देवता अपनी प्रजा के लिए हर प्रकार की फसल का उत्तम हिस्सा प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। इस दरबार में ही हर ग्राम के लिए जन्म, बीमारी

व जानवरों की संख्या भी निश्चित हो जाती है। इन्द्र भारतीय ज्ञान-परम्परा में धान्य के देवाधिदेव माने जाते हैं। एक पक्ष तक इन्द्र के दरबार में व्यस्त व संवेदनशील समय गुज़ारने के पश्चात् देवता अपने-अपने हिस्से का अच्छा-बुरा लेकर वर्ष भर के लिए गाँव में वापिस लौट आते हैं और प्रजा-जनों को इस विषय में बताते हैं।

जिस दिन ग्राम-देवता संदेश लेकर कैलास की ओर प्रस्थान करते हैं, उस दिन भी मन्दिर में एक उत्सव होता है। ग्राम-देवता से प्रार्थना की जाती है कि वह स्वर्ग में अपने प्रतिद्वंद्वियों को परास्त कर अच्छी वस्तुएँ लाएँ। देवता स्वर्ग यानी कैलास पर चले जाते हैं तो मन्दिर में उनकी अनुपस्थिति में सारी पूजा-प्रार्थनाएँ व अन्य औपचारिकताएँ स्थगित कर दी जाती हैं। देवता की वापसी पर सारा ग्रामीण जन-समूह अनोखे उत्साह व आशा के साथ मन्दिर में एकत्र होता है। देवता अपने गूर यानी प्रवक्ता के माध्यम से इन्द्र के दरबार में हुई सभा और अपने कार्य-कलाप का वर्णन प्रजा के सामने करता है। यह वर्णन अहंकार, आत्म-प्रशंसा व मिथ्याभिमान के बिना नहीं होता। साधारण लोगों पर इस तरह के व्याख्यान से ही देवत्व का रंग जम पाता है।

उसके पश्चात् देवता बड़े दरबार में हुई फसलों व अन्य वस्तुओं के विभाजन की घोषणा करता है। वह वर्षा, बीमारी व वस्तुओं के दाम आदि के बारे भी भविष्य की बातें कहता है कि कौन-सी वस्तु साल में सस्ती होगी, कौन-सी महंगी। ग्रामवासी अच्छी व बुरी घोषणाएँ हाथ जोड़ कर श्रद्धाभाव से सुनते हैं।

लोगों के जीवन व समाज में कैलास का इतना अधिक महत्त्व होने के बावजूद वहाँ एक भी मन्दिर उस सर्वोच्च देवता के नाम पर नहीं है। यह किन्नौर में प्रत्येक महत्त्वपूर्ण ग्राम-देवता का मन्दिर बनाने की परम्परा से अलग है। जबकि कैलासपति किन्नौरों के देवताओं का देवता है।

धार्मिक व सांस्कृतिक दृष्टि से यह क्षेत्र काफी समय तक तिब्बत के प्रभाव में रहा और बाह्य धार्मिक विचार व ईश्वर की धारणा का प्रवेश यहाँ काफी देर से हुआ। प्राकृतिक परिवेश में बनती लोक-आस्थाओं पर ही यहाँ का जीवन निर्भर करता रहा है।

विपाशा : अंक-59, नवम्बर-दिसम्बर, 1994 से

किन्नौरी बोलियाँ

ठाकुर सेन नेगी

जब हम केवल किन्नौरी बोली, अर्थात् किन्नौरी कहलानेवाली एक मात्र बोली की बात करते हैं तो साधारणतः उस बोली की चर्चा चलती है, जिसे राहुल सांकृत्यायन तथा कुछ अन्यों ने 'हमकद' या 'हमस्कद' कहा है और जो किन्नौर के अधिकांश भाग में बोली जाती है। यह बोली किसी समय किन्नौर के उन रहे-सहे भागों में भी प्रायः बोली या समझी जाती थी, जहाँ की अपनी पृथक् मातृबोलियाँ भी रही हैं। जब जनगणना के प्रयोजनार्थ गणनाकार ज़बान पूछते हैं तो उत्तर देनेवाला किन्नौरा जवाब तो यही देता है कि उसकी ज़बान किन्नौरी है, परन्तु अभिप्राय अलग होता है। जो लोग अपनी भिन्न मातृबोली रखते हुए भी उपरोक्त मुख्य किन्नौरी बोली बोल सकते हैं, वे तो भले ही उस मुख्य बोली को मन में रखकर अपना उपरोक्त जवाब देते हैं, परन्तु जो मुख्य किन्नौरी नहीं जानते, वे अपना उत्तर इस अर्थ में देते हैं कि उनकी मातृ बोली भी ऐसी जगह बोली जाती है जो किन्नौर का ही एक भाग है और जिस कारण वह बोली भी किन्नौर की ही एक बोली है।

यदि हम परिभाषाओं की बारीकियों में जाएँ तो प्रश्न उत्पन्न होगा कि क्या किन्नौरी का अपना कोई साहित्य है ? या क्या उसकी अपनी कोई लिपि है? यदि नहीं, तो किन्नौरी भाषा नहीं है, बोली मात्र है। 1975 तक किन्नौरी की अपनी कोई लिखित सम्पत्ति नहीं थी, जिसे उसका साहित्य कहा जाए। लिपि पहले टांकरी होती थी और अब देवनागरी है। इस परख के अनुसार यह किन्नौरी भाषा की पदवी प्राप्त नहीं करती। परन्तु इस लेख में जहाँ कहीं किसी बोली के सम्बंध में मातृभाषा शब्द प्रयोग में आया है, वहाँ उपरोक्त पारिभाषिक नफ़ासत को सामने नहीं रखा गया है और शब्द 'भाषा' को बोली के पर्याय के रूप में इस्तेमाल किया गया है और इस अर्थ में किन्नौर की

बोलियाँ निम्न दर्शित क्षेत्रों में स्थानीय मातृभाषाएँ हैं–

1. वह बोली जिसे मुख्य किन्नौरी कहा जाता है, समस्त निचार उपखण्ड में छितकुल तथा रकछम ग्रामों के सिवा समूचे कल्पा उपखण्ड में और पूह उपखण्ड के रारंग, रिब्बा, रिस्पा व रिकबा, ठंगी, मूरंग, झाबुंग और रोपा गाँवों में बोली जाती है।

2. छितकुल तथा रकछम की बोली केवल इन्हीं दो ग्रामों की मातृभाषा है। यहाँ मुख्य किन्नौरी भी पिछली पीढ़ियों के लोग भली-भांति बोलते हैं।

3. कुनो-चारंग तथा नैसंग आदि की मातृभाषा मुख्य किन्नौरी से भिन्न रही है। परन्तु बीच में कुछ काल ऐसा भी रहा है, जिसमें इन तीनों ग्रामों में मुख्य किन्नौरी का प्रचलन दूसरे दर्जे की मातृभाषा जैसा हो गया था। कुनो और चारंग में तो बिल्कुल एक ही बोली है। नैसंग बोली में कहीं-कहीं थोड़ा अन्तर है पर इतना नहीं कि उसे पृथक् बोली समझा जाए।

4. जंगरामी बोली जंगी, लिप्पा और आसरंग ग्रामों की मातृभाषा है।

5. शुमछो की मातृभाषा जिसे 'थेबर कद' भी कहते हैं, कानम, लाबरंग, करला तथा स्पिलो में बोली जाती है और यह मामूली स्थानीय विशेषताओं के अधीन श्यासो और रोशकुलंग व तलिङ् में भी बोली जाती है।

6. सुन्नम भी अकेले सुन्नम गाँव की मातृभाषा है।

7. वह बोली जो शेष पूह उपखण्ड की मातृभाषा है। पूह, डबलिंग, डुबलिङ्, खाबो, नमझा और टशिगंग ग्रामों में तो यह बोली पूर्ण समानता से बोली जाती है, जबकि हंगरंग उपत्यका के ग्रामों में इस बोली के भीतर कहीं-कहीं किंचित् स्थानीय विशेषताएँ आ गई हैं। हाँ, वे विशेषताएँ इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं हैं कि वहाँ के निवासी पूह उपखण्ड के अन्य ग्रामों में बोली जानेवाली भाषा को न समझ पाएँ या इन दूसरे गाँवों में रहनेवाले वहाँ की बोली को न समझ सकें। इस आधार पर कि छितकुल तथा रकछम के केवल दो ग्रामों को छोड़ कर पूह उपखण्ड से बाहर सारे किन्नौर में मुख्य किन्नौरी बोली जाती है। कुछ लोग किन्नौर की बोलियों को दो सहज भागों में विभाजित कर देते हैं। एक को वह 'पूह की बोली' कह देते हैं और दूसरी को 'कल्पा की बोली'। दोनों संज्ञाएँ अशुद्ध हैं। कोई बोली ऐसी नहीं जो केवल पूह या कल्पा गाँवों में बोली जाती हो। यदि पूह का अर्थ पूह उपखण्ड लें तो वहाँ मुख्य किन्नौरी समेत छह बोलियाँ बोली जाती हैं। परन्तु जब हम सारे उपखण्ड को ध्यान में रख कर पूह कहते हैं तो हमें पूह की बोली न कह कर पूह की बोलियाँ कहना चाहिए। दूसरी ओर 'कल्पा की बोली' नाम की कोई भाषा नहीं है। चाहे कल्पा

का हम ग्राम के अर्थ में उच्चारण करें, चाहे उपखण्ड के अर्थ में। मुख्य किन्नौरी केवल कल्पा तक ही सीमित नहीं है, न इस नाम के ग्राम में और न ही इस नाम के उपखण्ड में।

8. अभी तक इस लेख में हरिजन बोलियों का कोई ज़िक्र नहीं आया है। जो लोग नवीन परिभाषाओं तथा नए नामकरण में हरिजन कहलाते हैं, वे पटवारी के कागज़ों में (जब कागज़ात माल में जातियाँ लिखी जाती थीं) और उन लोगों में से बहुत से अब जनगणना के दौरान जात-पात सम्बंधी पूछताछ के उत्तर में, अपने को कोली, लोहार या बाढ़ी आदि लिखाते रहे हैं। इनमें से लोहार तथा बाढ़ी नगण्य भिन्नताओं सहित एक ही बोली बोलते हैं और कोली क्योंकि संख्या में कहीं अधिक हैं, अलग बोली बोलते हैं। ये लोहार-बाढ़ी की बोली से ज़्यादा नहीं मिलती। सिवाए एक गाँव रोपा के जहाँ पर कि सवर्ण और हरिजन दोनों मुख्य किन्नौरी बोलते हैं। बाकी सब जगह, जहाँ-जहाँ की मातृभाषा मुख्य किन्नौरी है, हरिजनों की मातृभाषा उनकी अपनी बोली ही है, मुख्य किन्नौरी नहीं। अन्यत्र हरिजनों की मातृभाषा भी वही है जो सवर्णों की है। सिवाए छितकुल, रकछम तथा सुन्नम के, पूर्वोक्त दो ग्रामों के सवर्ण तो अपनी छितकुली व रक्छमी बोलते हैं, परन्तु हरिजन हरिजनोंवाली बोली में बात करते हैं। सुन्नम में सवर्णों की मातृ भाषा सुन्नमी बोली है और हरिजनों की थेबरकद।

नई नस्लें जो शैशव अवस्था में ही पाठशालाओं में हिन्दी के वातावरण में पलती हैं, उनकी दशा तो कुछ और है। अन्यथा हरिजन अपने ग्राम की सवर्ण बोली प्रायः भली-भांति समझ और बोल सकते हैं और यहाँ सवर्ण भी अधिकांशतः हरिजन बोली कमोबेश समझ ही लेते हैं और कोई-कोई अच्छी तरह बोल भी लेते हैं।

9. किन्नौर की सभी बोलियों के कुछ शब्द और वाक्य नीचे दिये गए हैं, जिन्हें हिन्दी शब्दों तथा वाक्यों में अनूदित किया गया है–

क्र	हिन्दी	पूह	थेबर	जंगरामी	कुनुचारङ् /नेसङ	छितकुल –रकछम	सुन्नम	हरिजन	मुख्य किन्नौरी
1	बाल	टा	क्रा	क्रा	टा	क्रा	क्रा	बाल	क्रा
2	सिर	गो	पिशा	पिशा	गो	पिचा	पिशा	मुटकन	बल
3	माथा	टाला	फ्या	फ्या	टाला	फ्या	फ्या	निजल	फ्या
4	आँख	मिग	मि	मि	मिग	मि	मि	आखि	मिग
5	नाक	ना	मुर	ताकुस	ना	रिम	मुर	नाक	तकुच
6	कान	नमजोक	रेपङ्	रैत	नमचोक	रोच	रेपङ्	कान	कानङ्
7	हाथ	लक्-पा	गुत	ला	लक्-पा	लऊ	ला	हाथ	गुद

8	मुख	खा	अखेत	आ	खा	आ	आ	मुटकन	खाकङ्
9	सूर्य	ञिमा	नी	निमुक	ञिमा	नी	नी	दियुस	युने
10	चन्द्र	दावा	गोलसङ्	गोलसङ्	ल-कर	गोलसङ्	गोलसङ्	जोत	गोलसङ्
11	एक	चिक	इत	इत	चिग	ई	ति	एक	इद
12	दो	ञी	निश	निश	ञी	निशी	निशी	द्वी	निश
13	तीन	सुम	हुम	हुम	सुम	होमो	सुम	त्रोण	सुम
14	चार	जी	पअ	पअ	जी	पअ	पी	चार	पअ
15	पाँच	ङा	ङा	ङा	ङा	ङा	ङई	पाँच	ङा
16	छः	ड्रुग	ट्रू	ट्रू	ड्रुग	ट्रू	ट्रुगी	छो	ट्रुग
17	सात	दुन	शिणिश	शिश	दुन	तिश	नशी	सात	तिश
18	आठ	ज्ञत	ज्ञेद	ज्ञेद	ज्ञद	रया	ज्ञइ	आठ	राए
19	नौ	गू	गू	गू	गू	गुइ	गुई	नौ	गुई
20	दस	चू	सा	चुई	चू	स्या	चुई	दस	साए
21	ग्यारह	चुगशिक	सइद	चुथी	चुशिक	सिगित	चुत्थी	ग्यारह	सिइद
22	बीस	ञिशु	निसा	निसा	ञिशु	निसा	निसा	बीस	निज़ा
23	सौ	ज्ञा	ज्ञा	रा	ज्ञा	रा	ज्ञा	रा	रा

1. तुम कहाँ जा रहे हो ?

(क) पूह की मुख्य बोली–

(1) ख्योद गाला डोइता ? (2) ङेत गाला क्योद कन?

दूसरा वाक्य आदरसूचक है जिसमें 'क्योद कन' का अर्थ है– 'तशरीफ़ ले जा रहे हैं'।

(ख) थेबर कद –

(1) का अम जेयो तोन? (2) गिरङ् अम जेयो तोइ ?

दूसरा वाक्य आदर सूचक है– "आप कहाँ पधार रहे हैं?"

(ग) जंगरामी–

(1) कान गोवे देनिच तोन ? (2) ज्ञम गोवे देनिच तोदम ?

(आदर सूचक)

(घ) सुन्नम बोली–

(1) ङन गोदेया ? (2) हुनी गोदेया निन्ह ?

(आदर सूचक)

(ङ) कुनोचारङ्-नेसङ् बोलियाँ पूह की मुख्य बोली के समान हैं।

(च) छितकुल-रक्छमी बोली–

(1) कन गो रोवा? (2) किन गो रोवा तोइँ?

(आदर सूचक)

(छ) हरिजन (कोली) बोली–

(1) तु किन नशिन? (2) तु किन नशिन्स?

(ज) मुख्य किन्नौरी बोली

(1) का हम ब्यो तो ? (2) कि हम ब्यो तोइँ?

2. चाय पीजिए

(क) (1) जा थुङ् (2) जा छोद

(ख) (1) चा तुङ् (2) चा तुङ्ना

(ग) (1) चा तुङ् (2) चा तुङ्म

(घ) (1) चा तुङ् (2) चा तुङ्ना

(ङ) जैसा कि क में (1) (2)

(च) (1) चा तुङ् (2) चा तुईं।

(छ) चा जुट

(ज) (1) चा तुङ्। (2) चा तुङी।

3. तुम्हारे बेटे का विवाह कब है?

(क) ख्येद टुइ बगलेन नम यिना ?

(ख) गिरो छङ खु टाशिस तशपा तो?

(ग) झे छङ के नमशा एलंखा तुसेन?

(घ) हुनी छङ खे टाशिस इनो नी?

(ङ) जी टुगू टाशी नम?

(च) कीं आची रायेंटङ् हमें?

(छ) तेरेछैत्ड रो जानेक कद?

(ज) किन छड्डु जनेटङ् तैरङ्?

4. तुम बीमार थे ; अब कैसे हो?

(क) ख्योद नाओ ज़ेरा दा चुग योता?

(ख) गिरङ्? शोतु तोई छङ् हले तो?

(ग) झम नसी तोरेम, था हले तो?

(घ) हुनी नाखा रियां, था खंया निनाह?

(ङ) ङिद ना जा, सेङ चुग टांग?

(च) किन नसी तु तैई, था हलें तोंई?

(छ) तु ब्याज़वी, ऐ केनो स?

(ज) कि टो–टो तोच हला तोञ?

5. तुम अपना खेत कब बो रहे हो?

(क) डे जिङ नम मोयेता?

(ख) गिरङ् गिरो री तशं-पा पुती?

(ग) ङम गे री एलंखा पदं-नम?

(घ) हुनी री मे योवङ दूनु?

(ङ) ङी जिङ नम देबकन?

(च) किन री हमे पुचा तोइँ?

(छ) तु तेरो डारेवरो केतर बौंदे स?

(ज) कि किन रिम तेरङ् पशो तोञ?

ऊपर जो नमूने के 23 शब्द और 5 वाक्य दिये गये हैं, उनकी निम्नलिखित रोचक बातें तो तुरन्त ही स्पष्ट दिखाई देती हैं–

(1) हरिजन बोली बिल्कुल पृथक् वर्ग की बोली है।

(2) बाकी बोलियों में कहीं-कहीं शब्द समानता है। यह समानता मुख्य किन्नौरी के अतिरिक्त जो अन्य बोलियाँ हैं, उनमें से कुछ में अधिक है। गिनती में पाँच का समानार्थक शब्द 'ङा' तो हरिजन बोली को छोड़ सभी बोलियों में पाया जाता है।

(3) शब्दों में जितनी समानता कहीं पाई जाती है, वाक्यों में उतनी ही भिन्नता आ जाती है, जिस से शब्दों की समानता अपना महत्त्व खो बैठती है।

10. पूह की बोलियाँ

पूह उपखण्ड में प्रचलित बोलियों में से कुनो, चारंग, नैसंग, पूह ग्राम तथा पूह से आगे तिब्बत की दिशा में तथा स्पीति की ओर जितने ग्राम आते हैं, जिस क्षेत्र में समूची हंगरंग उपतहसील आ जाती है, अर्थात् पूह उपखण्ड की मुख्य बोली तथा वह उप बोली जो कुनो, चारंग और नैसंग की मातृभाषा है, इन दोनों बोलियों पर पड़ोसी तिब्बती इलाक़े की बोलियों की छाप अभी तक स्पष्ट तथा घनिष्ठ रूप में दिखाई देती है। तिब्बत के जो इलाक़े कुनो, चारंग व नैसंग से तथा पूह उपखण्ड के तीसरे किनारे से लगते हैं, वहाँ भी बोलियों में कुछ-कुछ स्थानीय अन्तर है और उन्हीं अन्तरों की झलक किन्नौर की इन बोलियों में परस्पर थोड़े-थोड़े भेदों की शक्ल में पायी जाती है। ये दोनों बोलियाँ भाषाओं के तिब्बती समूह की हैं। लेकिन वह तिब्बती नहीं जो साहित्य में पायी जाती है। बल्कि वह जो सर्वसाधारण की जीभ पर चलती है और जीभ भी ल्हासा जैसे दूरस्थ तथा उन्नत इलाके की नहीं, वरन् साथ लगते तिब्बती क्षेत्रों की। इस नाते आश्चर्य नहीं होता, जब स्पीति, बल्कि

लद्दाख की बोलियाँ भी, पूह उपमण्डल की इन बोलियों से कुछ न कुछ मिलती-जुलती पायी जाती हैं।

11. पूह की शेष बोलियाँ

अब रही पूह उपमण्डल की शेष बोलियाँ जो उपखण्ड के उन भागों की मातृभाषाएँ हैं जहाँ की मातृभाषा मुख्य किन्नौरी नहीं है। सुन्नम ग्राम की अकेली बोली का कुछ अंश पृथक् ही है और शेष भाग 'पड़ा पाया देखा उठाया' वाला मामला नज़र आता है। इसी के फलस्वरूप खिचड़ी-सी पकी हुई है। ऐसी दशा में भी यह बोली थैबर कद तथा जंगरामी के अधिक निकट है। अन्य बोलियों की बनिस्बत कुछ ऐसी ही स्थिति थैबर और जंगरामी के सम्बंध में भी दिखाई देती है, जो उक्त दो बोलियों से अन्य बोलियों के साथ अपेक्षाकृत परस्पर अधिक मेल खाती हैं। क्षेत्र भी पास-पड़ोस में हैं, परन्तु फिर भी तुरन्त यह नहीं कहा जा सकता है कि यह एक ही माता के गर्भ से उत्पन्न दो बहिनें हैं।

12. छितकुल-रक्छम की बोली

इसे सुन्नमी की सहपाठी बोली इस अर्थ में कह सकते हैं कि इसके अंतर्भाग में भी कुछ सजातीयता है; परन्तु वहाँ से आगे मिश्रित विकास हुआ।

13. हरिजन बोलियाँ

भाषा-वंश की खोज में चलें तो यह नज़र आयेगा कि 'कोली बोली' और 'लोहार-बाढ़ी बोली' दोनों किसी ऐसे वंश की बोलियाँ हैं, जो उस वंश से पृथक् हैं, जिस से मुख्य किन्नौरी अथवा किन्नौर की कोई अन्य बोली उत्पन्न हुई है। इन हरिजन बोलियों का साफ़ रिश्ता उन बोलियों से है, जो ज़िला शिमला के कुछ भागों में बोली जाती हैं। जैसे ऊपर दिये गये वाक्यों से विदित है कि लोहार और बाढ़ी तो एक ही बोली बोलते हैं। यदि कोई अन्तर आ गया है तो वह विकास की देन है। जड़ एक है, तना एक है, शाखें वही हैं। कहीं कोई पत्ता किसी विशेष आकार का लगता है तो वह नगण्य है।

14. मुख्य किन्नौरी

आदिकालीन शुद्धता तो किसी भी जीवित बोली या भाषा में नहीं रहती। मुख्य किन्नौरी की भी बड़े स्तर पर वही मिश्रित अवस्था है, जो छोटे पैमाने पर सुन्नमी, छितकुल-रक्छमी और कुछ कम मात्रा में अन्य किन्नौरी बोलियों की है। इतना फ़र्क है कि मुख्य किन्नौरी में यह मिश्रण 'पड़ा पाया, देखा उठाया' वाली प्रक्रिया से प्रायः नहीं आया है। किसी इक्के-दुक्के शब्द मात्र या किसी बिरली कहावत में ऐसा हुआ हो तो कह नहीं सकते।

इतिहास के भिन्न कालों में किन्नौर में बाहर से अन्य जातियों के लोग आ-आ कर बसते रहे हैं और आदि किन्नौरी में उन प्रवासियों की बोलियों के कुछ अंश तथा किंचित् लक्षण खपते गये हैं। आदि किन्नौरवासी किस भाषा का भाषी था, यह उल्लेख किसी अभिलेख या ग्रन्थ में यदि होगा भी तो मैंने अभी तक कहीं नहीं पढ़ा है। इतना अवश्य है कि आज की किन्नौरी में एक अच्छा बड़ा अन्तर्भागीय शब्दग्रंथ ठेठ स्वजातीय है। श्री राहुल जैसे लेखकों ने मुख्य किन्नौरी को 'हम कद' या 'हम स्कद' कहा है। परन्तु यह 'हम' क्या है और क्यों मुख्य किन्नौरी को 'किन्नौरी' (किन्नरों की भाषा) न कह कर 'हम' कहा जाये, यह नहीं बताया। 'कद' या 'स्कद' का अर्थ तो 'बोली' है, पर यह 'हम' क्या है? आधुनिक किन्नौरी में जो संस्कृत की कुछ बू-बास है, वह आदि किन्नौरी के संस्कृत के अभिन्न अंग होने का बचा- खुचा परिणाम है, या आदि किन्नौरी संस्कृत से पूर्वकालीन भाषा थी या वैसे ही संस्कृत से भिन्न कोई भाषा थी और संस्कृत का मिश्रण भी कोई बाह्य देन है, यह विषय खोज माँगता है। राहुल सांकृत्यायन की पुस्तक 'किन्नर देश' में कुछ शब्द किन्नौरी के ऐसे मिलेंगे जो संस्कृत के हैं (चाहे शुद्ध रूप में, चाहे अपभ्रंश रूप में) या संस्कृत से निकले हैं। उदाहरणार्थ किन्नौरी में बकरे को 'अएश' कहते हैं, इसमें संस्कृत के 'अज' शब्द का लेशमात्र विकार है। 'दरवाज़ा बन्द करो' को संस्कृत में 'द्वारम् विदेही' कहा जायेगा तो किन्नौरी में 'द्वारङ् पिद'।

खश जाति का भी किन्नौर में प्रवास हुआ था। इस ऐतिहासिक घटना की प्रामाणिकता इससे भी सिद्ध होती है कि सवर्णों को मोटे तौर पर 'खोशिया' भी कहा जाता था। यदि किरात जाति किन्नौर में खपते-खपते कुछ किराती शब्दों की भेंट किन्नौरी भाषा को कर गई, जैसा कि राहुल जी सरीखे अन्वेषकों की खोज रही है, तो खश भी कुछ न कुछ योगदान अपनी भाषा से किन्नौरी भाषा को अवश्य कर गए होंगे। कुछ और शोध किया जाए तो ज़रूर यह खश अंश भी आज की किन्नौरी में निकल आयेगा।

रेवरेंड जे. ब्रुस्के (मोरेवियन मिशन) तथा डॉ. स्टेन कोनॉव का यह मत रहा है कि किन्नौरी के व्याकरण के अध्ययन से इस बोली का छोटा नागपुर में बोली जानेवाली मुण्डारी से गहरा रिश्ता पाया जाता है।

कुछ शब्दों में समानता या मेल-जोल, दुनिया की कई भाषाओं और बोलियों में पाया जाता है, विशेषकर उन शब्दों में जो ऐसी चीज़ों के नाम हैं जिन का मानव को उस प्रारम्भिक काल में सामना करना पड़ा, जब वह अभी बोलना सीख ही रहा था। भाषा, इतिहास और उस द्वारा ज्ञात मानव इतिहास

में शब्दों का यह सादृश्य एक महत्त्वपूर्ण लक्षण है। परन्तु इससे भी अधिक अर्थपूर्ण बात होती है व्याकरणों में समानता या सादृश्य। किन्नौरी का विस्तृत अध्ययन गवेषण के अभिप्राय से किया जाए तो वह कार्य अत्यंत रोचक रहेगा और इस अनुसंधान में शब्दावलियों से भी अधिक व्याकरणों में खोज वांछित रहेगी।

राहुल जी ने तीन तत्त्व आधुनिक किन्नौरी में पाए हैं– तिब्बती भाषा (भोट भाषा) का तत्त्व, संस्कृत-हिन्दी का तत्त्व तथा किरात भाषा का तत्त्व। किरात तत्त्व को उन्होंने मूल जाना है। खश तत्त्व का कोई ज़िक्र नहीं किया है। हालाँकि खशों से किन्नरों का समागम उन्होंने भी स्वीकार किया है और इस एक भारी छूट के कारण ही उनकी खोज को अधूरा कहा जा सकता है। यद्यपि अभी तक जितना काम किन्नौर की बोलियों पर किसी ने किया है, मैं सामूहिक मूल्यांकन में राहुल जी के काम को सर्वोच्च मानता हूँ। मैं राहुल जी की इस धारणा को भी परिपक्व नहीं समझता कि किन्नौरी भाषा का मूल तत्त्व किरात्-भाषा है। मेरा मानना है कि मूल तत्त्व तो किन्नौरी भाषा थी, अर्थात् आदि किन्नौरों की भाषा थी, चाहे वह भाषा कुछ भी थी और कोई भी थी। राहुल जी ने फ़रमाया है, 'किन्नर जाति का सब से पुराना स्तर है किरात'। इसी सिद्धान्त पर उन्होंने किरात भाषा को मूल तत्त्व का स्थान दिया है, लेकिन इसका अर्थ तो यह हुआ कि किरात वही लोग थे जिन्हें किन्नर भी कहा गया, जो कि ग़लत है। किन्नौरों और किरातों को आज तक सदा पृथक् बताया, जताया और माना गया है; सिवाए राहुल जी के इस सिद्धांत के। मैंने तो कहीं नहीं पढ़ा कि किन्नौरों और किरातों की एक ही जाति थी। ग्रन्थों और अन्य ऐतिहासिक लेखों से तो यही पाया जाता है कि किन्नौरे जहाँ भी थे किरातों से बहुत पहले के थे और किरात बहुत बाद में आये। राहुल जी की दी हुई शब्दावली तथा वाक्यावली में कुछ अशुद्धियाँ भी हैं, परन्तु इस लेख में उनकी चर्चा की गुंजाइश नहीं है।

15. मुख्य किन्नौरी : स्थानिक विशेषताएँ

मुख्य किन्नौरी में भी कुछ स्थानीय विशेषताएँ अथवा भिन्नताएँ हैं। ज़्यादा तो ये विशेषताएँ या भिन्नताएँ लहज़े में और उच्चारण की रीति में हैं। पुरातन काल में जब कुछ दूरी पर स्थित दो ग्रामों में भी परस्पर सम्पर्क तथा आदान-प्रदान दुर्गम हुआ करता था, इस प्रकार के अन्तर स्वाभाविक तौर पर ही पनपते थे। यातायात की अधिकाधिक सुविधाओं के साथ-साथ समानता बढ़ती जा रही है, जिसमें यहाँ की विशेषताएँ वहाँ पहुँच रही हैं और वहाँ की

यहाँ। फलतः विशेषताएँ साधारणताओं में परिवर्तित होती जा रही हैं। कुछ शब्द क्षेत्रीय भिन्नता लिए हुए हैं। निचार उपखण्ड में यह क्षेत्रीय भिन्नता अधिक पाई जाती है, कुछ तो कल्पा उपखण्ड तथा पूह उपखण्ड की मुख्य किन्नौरी भाषा में भी है। ज्यूँ-ज्यूँ सतलुज वादी में तिब्बती सीमा नज़दीक आती जाती है, भोट भाषा का प्रभाव अधिक होता गया है। निचार उपमण्डल दूसरे सिरे से आरम्भ होता है, तिब्बत की ओर से पूह उपखण्ड का क्षेत्र आता है और कल्पा मध्य में पड़ता है। शुवा, टुक्पा, राजग्रामङ्, अठारह-बीस, पन्द्रह-बीस आदि पुराने परगनों के लिहाज़ से भी भाषा में ज़रा-ज़रा स्थानीय विशेषताएँ रही हैं।

16. विकास की दिशा

आजकल की किन्नौरी में बढ़ती संख्या में वे शब्द भी हैं, जो हिन्दी, उर्दू या अंग्रेज़ी के हैं और जो बाहरवालों से सम्पर्क तथा आधुनिक शिक्षा के फलस्वरूप किन्नौर में घुसते चले जा रहे हैं। अब इन दसेक सालों में नौबत यहाँ तक आ गई है कि शिक्षित तथा युवक वर्ग तो आपस में भी हिन्दुस्तानी और जो अंग्रेज़ी अच्छी जानते हैं, दोनों मिला कर बोलना अधिक पसन्द करते हैं और अपनी मातृभाषा कम। यह मेरा प्रतिदिन का अनुभव है कि जब कभी कोई किन्नौरी नौजवान मुझ से मिलता है और मैं किन्नौरी में बोले जा रहा हूँ तो वह हिन्दुस्तानी और अंग्रेज़ी मिली-जुली भाषा को ही अपना रहा होता है। कोई बिरला ही ऐसा निकलता है, जो किन्नौरी में अपनी बात आरम्भ करे या मेरे किन्नौरी में बोलने पर स्वयं भी किन्नौरी पर उतर आये। जैसे आज स्वतन्त्रता के इतने वर्ष बाद भी देश का अंग्रेज़ी भाषा में सुशिक्षित वर्ग अधिकांश बोलते-बोलते अंग्रेज़ी में कहीं अधिक कूद पड़ता है और हिन्दुस्तानी उसकी ज़बान पर भूल से ही आती है, यही दशा किन्नौर के शिक्षित युवकों में से अधिकांश की अपनी मातृभाषा के बारे में है। यदि ठेठ किन्नौरी अपने शुद्ध रूप में सुननी हो तो लगभग चालीस वर्ष से कम आयु का व्यक्ति तो शायद ही कोई मिले, सिवाए उन पुरुषों या स्त्रियों के जिन का जीवन आधुनिक सम्पर्कों से अलग-थलग रहा है।

सोमसी : जनवरी-जून, 20006 अंक से

सनातन बोन धर्म और जङ-जुङ भाषा

छेरिंग दोरजे

उन्नीसवीं शताब्दी के विख्यात आंग्लकवि हेनरी वर्डसवर्थ का कथन है कि जो लोग इतिहास की रचना करते हैं, वे उस समय के बालू पर 'पद-चिह्न' छोड़ जाते हैं। संभवतः बालू का 'पद-चिह्न' तो मिट जाए, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उसका महत्त्व ही मिट जाएगा। हाँ, यह सत्य है कि अधिकतर घटनाएँ भूतकाल की मोटी चादर की तहों के नीचे दब जाती हैं और शायद आगे भी दबी रहेंगी। हमारे पूर्वजों ने शताब्दियों तक किसी प्रकार का लिखित प्रमाण नहीं छोड़ा है और फिर कई शताब्दियों तक के रोचक, परन्तु बुझारत जैसे लेख छोड़े हैं, जिनके बारे जानकारी प्राप्त करनी होगी। उन लोगों के ये 'पद-चिह्न' पूर्ण रूप से मिटे नहीं हैं। प्राचीन काल की घटनाओं के बारे ऐतिहासिक स्मारक, दुर्ग और मंदिर के खंडहर, शिलालेख तथा भित्ति-चित्र आदि आज भी ऐसे साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं, जो हमारी ऐतिहासिक जानकारी में बढ़ोतरी करते हैं। आधुनिक पुरातत्त्ववेत्ता आज की उच्च तकनीकी जानकारियों द्वारा नित नए ऐतिहासिक स्थानों की खोजबीन कर, हमें भूतकाल की घटनाओं और जानकारियों से अवगत कराते हैं।

पौराणिक गाथाओं और कथाओं में भी ऐतिहासिक तथ्य छुपे होते हैं। प्रत्येक कल्पना-प्रसूत कथा के माध्यम से भी प्राचीन सत्य-घटनाओं का ज्ञान हमें प्राप्त हो सकता है। चाहे वह गेसर खान की कहानी हो, महाभारत की कथा हो, बालतिस्तान के सोमालेग के प्रश्नोत्तर हों या फिर ऋग्वेद के शम्बर या देवासुर संग्राम के प्रसंग हों।

बोन धर्म और उसका उद्भव

बोन धर्म के प्रवर्तक अर्द्ध-पौराणिक पुरुष, महात्मा शेन-रब मि-वो माने जाते हैं। वह तग-ज़िक देश के ओल-मो लुङ-रिङ नगर से बोन धर्म के प्रचार

हेतु पलायन कर जङ-जुङ देश आए थे और यहाँ कई वर्षों तक इस धर्म का प्रचार लोगों में करते रहे। उन्होंने यहाँ की जनभाषा जङ-जुङ स्कद में बोन धर्म की शिक्षा जङ-जुङ के निवासियों को दी और कई ग्रंथों की रचना भी इसी भाषा में की। तत्पश्चात् वह यहाँ से तिब्बत की ओर गए और वहाँ भी जङ-जुङ भाषा में ही इस धर्म का प्रचार किया। इस प्रकार समस्त तिब्बत की भूमि में बोन धर्म के प्रचार ने ज़ोर पकड़ लिया और छठी शताब्दी के अंत तक यह तिब्बत के राष्ट्रधर्म के रूप में विकसित हो गया था। यद्यपि बोन धर्म का प्रसार तिब्बत में खूब हुआ था, परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि जङ-जुङ देश और वहाँ के निवासियों का यह स्वाभाविक धर्म ही बन गया था। यही कारण है कि बोन ग्रंथों में जङ-जुङ देश और वहाँ की भाषा का विवरण प्रचुर मात्रा में मिलता है। परन्तु वास्तविक मूल देश तग-ज़िग ओल-मोलुङ-रिंङ और वहाँ की भाषा का वर्णन संयोगवश ही मिलता है। संभवतः शेन-रब ने अपने जीवन का मूल्यवान समय जङ-जुङ देश में धर्मोपदेश करते हुए बिता दिया था।

बोन धर्म में शेन-रब मि-वो का विशेष स्थान बौद्ध धर्म में शाक्य मुनि गौतम के समान ही कहा गया है। बुद्ध की जीवनी के समान न होकर, शेन-रब की जीवनी में उनका जन्म स्थान, जन्म तिथि आदि का कोई वर्णन नहीं मिलता है। यहाँ तक कि उनकी जीवनी भी बुद्ध की जीवनी 'ललितविस्तर' के आधार पर लिखी गई है। परन्तु प्रामाणिकता की कसौटी पर वह खरी उतरती नहीं दीख रही है और न ही इस बारे 10वीं शताब्दी के पूर्वकाल का कोई लिखित प्रमाण उपलब्ध है।

बोन धर्म की शिक्षा

बोन धर्म के प्रवर्तक शेन-रब मि-वो द्वारा दी गई शिक्षाओं को मुख्यतः दो श्रेणियों में बाँटा गया है। इनमें प्रथम श्रेणी में आता है, स्गो-ब्ज़ी म्ज़ोद-ल्ङ् अर्थात् चार द्वार (मार्ग) और पाँचवाँ कोष जो निम्नलिखित हैं–

1. छब-द्कर (श्वेत जल)
2. छब-नग (काला जल)
3. फन-युल (फन देश)
4. द्पोन-ग्सस (मार्ग दर्शक)
5. म्थो-थोग (शिखर अथवा कोष)

छव-द्कर में गुह्य ज्ञान के विषयों का उल्लेख है, विशेष रूप से जाप मंत्र आदि। छब-नग में विवरणात्मक तथा कर्मकांड के विषयों का उल्लेख

है। फन-युल में समस्त गुप्त शिक्षाओं, विहार की नियमावली, संस्कार, आचार और द्पोन-ग्सस में मनोवैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक शिक्षाओं का सीधे और विशेष रूप में उल्लेख किया गया है, जिसमें अतियोग प्रणाली की समाधि शिक्षा सम्मिलित है। अन्त में म्थो-थोग अर्थात् कोष को स्पयी-रग्युग्स कहा गया है, जिसका अर्थ है 'सर्व चलन'। यह ऊपरलिखित चारों शिक्षाओं में समान रूप से व्यवहृत होता है।

इनमें छब-द्कर और फन-युल का सीधा सम्बन्ध बौद्ध शिक्षाओं से मिलता-जुलता है। छब-द्कर का बौद्ध तंत्र से और फन-युल का बौद्ध सूत्र से। फन-युल के बारे अभी तक कोई सर्वमान्य ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का पता नहीं लगा है। संभवतः मध्य तिब्बत स्थित फन-युल प्रदेश से ही इसका नामकरण हुआ हो।

अन्य वर्गीकरण क्रमों को थेग-पा द्गु अर्थात् 'नौ यान' पथ और वाहन के रूप में भी अनूदित किया जाता है। इस वर्गीकरण के भी तीन पाठान्तर हैं–दक्षिणी कोष (ल्हो-ग्तेर) का पाठान्तर, उत्तरी कोष (ब्यङ ग्तेर) का पाठान्तर और मध्य कोष (दबुस ग्तेर) का पाठान्तर। इन नौ यानों को आगे तीन और श्रेणियों में बाँटा गया है–

1. प्रथम चार 'कारण-यान' (ग्युई-थेग-पा)
2. मध्य के चार 'फल-यान' (ब्रेस-बुइ थेग-पा)
3. नौवाँ 'अतियोग भावना' प्रणाली

यहाँ यह स्पष्ट करना चाहता हूँ कि बोनपो और ञिङ-मा-पा (तिब्बती बौद्ध धर्म का सनातन संकाय) दोनों ने ही अपने-अपने दर्शन तथा तत्त्व ज्ञान सम्बंधी शिक्षाओं को नौयान क्रम में दिया है। अभी तक इस नौ यान प्रणाली की शिक्षा पर किसी ने भी गहन अध्ययन नहीं किया है, जिससे यह सिद्ध हो सके कि बोनपो या ञिङ-मा-पा में से किसने प्रथम बार इस शिक्षा पद्धति की प्रस्तुति की है। यह स्पष्ट है कि इसकी नकल अवश्य एक मत के अनुयायियों ने दूसरे मत वालों से की है। परन्तु इस बारे खोज कर अंतिम परिणाम तक पहुँचना इतना सरल नहीं लगता है। इस बारे ञिङ-मा-पा मतावलंबियों में भी आपसी मतैक्य नहीं है। इसे एक प्राचीन लेख 'ल्त-वइ रिम-पा ब्शद-पा (दर्शन क्रमानुका) के विख्यात अनुवादक स्का-वा द्पल-ब्चेग्स के साथ जोड़ा जाता है, जो आठवीं शताब्दी के अंतिम चरण में हुए हैं। इस लेख के अनुसार 'नौ यान' को ञिङ-मा-पा द्वारा दर्शाया गया माना जाता है। यदि यह प्रामाणिक है तो यह धारणा बन जाती है कि बोनपो की 'नौ यान'

प्रणाली ञिङ-मा-पा द्वारा दर्शायी शिक्षा पर आधारित है। दूसरी ओर बु-स्तोन रि-छेन ग्रुब (1290—1364 ई.) ने इस चर्चित लेख की प्रामाणिकता को मानने से इन्कार कर दिया है, और इस पर आगे गहन संवाद करने का परामर्श दिया है।

जङ-जुङ राज्य की भौगोलिक स्थिति

बोनपो परम्परानुसार तथाकथित ओल-मो लुङ-रिङ से ही बोन धर्म जङ-जुङ और संसार के अन्य देशों में फैला है और यह स्थान ओल-मो लुङ-रिङ तग-ज़िक देश में ही स्थित है। अब विद्वानों द्वारा इसकी पुष्टि कर दी गई है कि तग-ज़िक देश ईरान (Persia) ही है।

बोनपो परम्परानुसार ओल-मो लुङ-रिङ तग-ज़िक देश की परिकल्पना बौद्धों द्वारा 'बौद्ध गया' जैसी ही की गई है और इसे संसार का एक मात्र पवित्र स्थान माना है, जिसके कारण यह स्थान अविध्वंसनीय है।

बोनपो परम्परा के चलते जङ-जुङ देश के तीन महाभूखंड हैं—गो-वा-बाह्य, फुग-पा-भीतरी और वर-वा-मध्य।

बोन विद्वान् समतन खरमे इन तीनों महाभूखंडों की स्थिति को लेकर लिखते हैं—'गो-वा अर्थात् बाह्य भूखंड पश्चिमी तिब्बत माना गया है, जिसमें पश्चिम की ओर गिलगित, पूर्व में दङ-रा ख्युङ-ज़ोङ (नम-छो सरोवर के पार्श्व में) और फुग-पा अर्थात् भीतरी महाभूखंड तग-ज़िक या तज़िग (Persia) को माना गया है। वर-वा (मध्य) भूखंड एक प्रदेश ग्य-खर-बर-चोद का माना है, जिसकी स्थिति की पहचान अभी तक नहीं हो सकी है। समतन खरमे का यह लेख बोन परम्पराओं पर आधारित लिखा, समझा जाना चाहिए।

वह आगे लिखते हैं कि, "हम नहीं जानते कि सम्पूर्ण पश्चिमी तिब्बत जङ-जुङ देश के अन्तर्गत आता भी है, और क्या यह एक स्वतन्त्र शासक के अधीन था? इसकी राजधानी ख्युङ-लुङ-द्ङुल-ल-म्खर कैलास पर्वत के पश्चिम की ओर स्थित थी। सातवीं शताब्दी में यहाँ का राजा लिग-म्यि ह्या (Lig-mye hya) था, जिसकी एक रानी का नाम सद-मर-कर था, जो तिब्बती सम्राट स्रोङ्-च़न-गम्पो (मृत्यु 649 ई.) की बहन थी। इसी तिब्बती सम्राट ने सातवीं शताब्दी में जङ-जुङ देश को तिब्बत के अधीन कर लिया था। परन्तु बोनपो और कुछ अन्य लेखकों के अनुसार इस देश को तिब्बती सम्राट ठि-स्रोङ्, ल्दे-च़न (जन्म 742 ई.) ने आठवीं शताब्दी में अपने साम्राज्य में मिला लिया था।" तुङ-हवाङ से मिले प्राचीन लेख में जङ-जुङ के इस राजा का नाम लिग ञिया-शुर कहा गया है और उनके दो मंत्रियों के नाम रमा और र-सङस थे।

प्रायः बोनपो परम्परानुसार जङ-जुङ प्राचीन तिब्बत के पश्चिम में एक अत्यन्त विस्तृत प्रदेश था, जिसकी राजधानी कैलास पर्वत के पश्चिम में ख्युङ-लुङ में थी। जैसा ऊपर कहा गया है कि प्रदेश के तीन महाखंड गो, फुग और वर थे। इस विस्तृत क्षेत्र में संसार की सबसे अधिक ऊँचाई पर स्थित जङ-थङ पठार सिंधु नदी का ऊपरी जलागम क्षेत्र लद्दाख, बालतिस्तान और गिलगित तक फैला हुआ था। इसके अतिरिक्त नेपाल और पश्चिमी हिमालय के कुछ भू-भाग भी इसमें सम्मिलित थे। अनुमानतः प्रशासनिक रूप से इनमें एक अथवा दो संयुक्त स्वशासी राज्यों के संगठन थे। यदि हम प्राचीन भारतीय किन्नर-किरात समुदाय और तिब्बती बोन शास्त्रों और इतिहास में उल्लिखित जङ-जुङ को लेकर यह कल्पना करें कि प्राचीन काल में जङ-जुङ या किन्नर-किरात जन उत्तर में क्युन-लुन शान से दक्षिण में हिमाचल के बाह्य क्षेत्र गंगा और सिंधु के मैदानों तक, और पूर्व में लउ-चङ से पश्चिम में काबुल दरिया तक छिट-पुट और बिखरे रूप से उनकी स्थाई बस्तियाँ और अस्थाई चरागाहों के शिविर रहे होंगे। इस प्रकार कल्पना करने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। इसकी अधिक सम्भावना है कि इन समस्त क्षेत्रों में फैले किन्नर-किरात अर्थात् जङ-जुङ समुदायों का केवल एक ही धर्म, बोन रहा होगा। परन्तु विभिन्न समुदायों की अपनी-अपनी उपबोलियाँ रही होंगी, जैसी कि आज भी किन्नर-किरात समुदाय की अनेक उपबोलियाँ हैं। जङ-जुङ राज्य का प्रमुख क्षेत्र कैलास पर्वत का भू-भाग और उसके साथ जङ-थङ पठार का विस्तृत भू-भाग रहा होगा। इस राज्य की राजधानी ऊपरी सतलुज घाटी में ख्युङ-लुङ में थी, इसकी पुष्टि तिब्बती इतिहास से होती है। पश्चिमी तिब्बत के गुगे और पु-रङ प्रदेशों को अभी भी जङ-जुङ कहा जाता है।

जङ-जुङ भाषा की खोज

कुछ समय पूर्व तक तिब्बत सम्बंधी अनुसंधित्सुओं में जङ-जुङ भाषा को लेकर यह धारणा बनी थी कि यह भाषा बोनपो आचार्यों और विद्वानों द्वारा रचित कृत्रिम भाषा है, ताकि बोन धर्मग्रंथों की मौलिकता, बौद्ध धर्मग्रंथों के आधार पर सिद्ध की जा सके। संस्कृत से अनूदित बौद्ध ग्रंथों के शीर्षक मूल संस्कृत भाषा में लिखने के पश्चात् तिब्बती भाषा में अनूदित शीर्षक लिखा रहता है। इसी प्रकार अधिकतर बोन ग्रंथों में भी प्रथम शीर्षक जङ-जुङ भाषा में, तत्पश्चात् तिब्बती भाषा में लिखा होता है, परन्तु अब भाषाशास्त्रियों ने जङ-जुङ भाषा बोलनेवालों को हिमालय के कठिन भीतरी क्षेत्रों में खोज

निकाला है। तब से लेकर उन तिब्बत सम्बंधी शोधकर्ताओं का यह भ्रम टूट गया है।

बोन धर्म और जङ-जुङ भाषा सम्बंधी अनुसंधान को नवगति उस समय मिली, जब कुछ बोन-भिक्षुओं ने, चीनियों द्वारा उनकी मातृभूमि तिब्बत को बलपूर्वक अपने अधीन करने के पश्चात् 1959-60 में भारत में आकर शरण ली। इन में कुछ शरणार्थी बोन धर्म के अनुयायी भी थे। इन शरणार्थियों ने सोलन नगर के समीप ग्राम दुलान्जी में अपनी नई बस्ती बसाई और साथ ही एक बोन-विहार की भी स्थापना की। गत शताब्दी के सातवें दशक में मेरा परिचय उन बोन-भिक्षुओं से हुआ था। इनमें से विहार के संघराज, श्रद्धेय सङग्यस तन्ज़िन ने मुझे एक पुस्तिका 'तिब्बती जङ-जुङ शब्दकोश' भी भेंट की, जिसे बोन लामा ञिमा-डग-पा ने 1853 में संकलित किया था। इस कोश में मुझे मेरी बोली 'पूननस्कद' के कई शब्द मिले। लगातार अध्ययन के पश्चात् मुझे लाहुल में बोली जानेवाली तीनों बोलियों तिनन, मन-चद और पुनन के शब्द और किन्नौर में बोली जानेवाली विभिन्न समुदायों की बोलियों के शब्द भी इस कोश में मिले, जिसे बोनपो अपनी धार्मिक भाषा जङ-जुङ कहते हैं। परन्तु वह इसे लुप्त भाषा ही मान रहे थे। इसकी चर्चा मैंने श्रद्धेय संघराज तथा उपाध्याय और अन्य बोन-भिक्षुओं से की और चंद शब्दों का अर्थ सहित उच्चारण भी किया।

वह यह जान कर चकित रह गए कि उनकी धार्मिक भाषा जङ-जुङ को बोलनेवाले आज भी संसार में विद्यमान हैं। तत्पश्चात् इस विषय पर आगे भी बोनपो भिक्षुओं और विद्वानों से मन्त्रणा होती रही। इन्हीं दिनों ञिमा-डग-पा के तिब्बती-जङ-जुङ शब्दकोश को आधार मानकर, और जी.ए. ग्रीयर्सन द्वारा संकलित 'भारतीय भाषाओं का सर्वेक्षण' पुस्तक में छपी पश्चिमी-हिमालयी बोलियों पर बात हुई, जिस पर लाहुल-स्पीति, किन्नौर कुमाऊँ, गढ़वाल और नीती आदि क्षेत्रों की बोलियों पर मि. एरिक हाड़ का टिप्पणी सहित लेख था। तत्पश्चात् बोन धर्म और जङ-जुङ प्रदेश पर डेविड सनेलग्रोव और डॉ. समतन ग्यल-छन खरमे द्वारा लिखित सामग्री ने खोज के लिए आगे का मार्ग खोल दिया। आज दर्जनों लोग बोन धर्म और जङ-जुङ प्रदेश और वहाँ की भाषाओं पर शोध कार्य कर रहे हैं।

अब भाषाविदों और शोधकर्ताओं के अनुसंधानों से यह सिद्ध हो चुका है कि बोन धर्म की धार्मिक भाषा जङ-जुङ कोई कृत्रिम भाषा नहीं, बल्कि इस भाषा को बोलनेवाले अब भी जम्बूद्वीप में विद्यमान हैं। यह भाषा तिब्बती-बर्मी

भाषा परिवार से सम्बंधित है और इसे दैनिक जीवन में प्रयोग करनेवाले लोग हिमालय के उत्तर-पूर्वी क्षेत्र से हिमाचल प्रदेश तक छितरे रूप में दुर्गम क्षेत्रों में अतीत काल से बसे हुए हैं। उत्तर-पूर्वी क्षेत्र के दाफला और त्योतो समुदाय और भूटान के शर-छोग पा इस भाषा की बोलियों का उपयोग अपने दैनिक व्यवहार में करते आ रहे हैं। वर्तमान में नेपाल और भूटान में इस भाषा की विभिन्न बोलियों को बोलनेवाले समुदायों की संख्या एक दर्जन से भी अधिक है, जिसमें मुख्य हैं : तमंग (मुरमी भाषा) थकाली, गुरूंग, गाले, लिम्बू, राहे, मगर और शर-छोग-पा आदि। भारत के उत्तर खंड में रंकास, दरमिया, चौडांस, भयांग्स और जंगाली बोलियाँ जङ-जुङ भाषा की ही उपबोलियाँ हैं। हिमाचल प्रदेश के ज़िला किन्नौर में बोली जानेवाली हम्स-कद, थो-शुवङ्-कद, यो-शुवङ्-कद व छित-कुल-कद और ज़िला कुल्लू के भीतर नाला मलाणा ग्राम में बोली जानेवाली कणाशी बोली भी जङ-जुङ भाषा की उपबोली है। ज़िला लाहुल-स्पीति के लाहुल उप-मण्डल में पुनन-कद, मन-चद-कद, तिनन-कद और रेउं-फा भी जङ-जुङ भाषा के अन्तर्गत उप-बोलियाँ हैं।

ञिमा डग-पा (जन्म 1818 ई.) द्वारा लिखित तिब्बती-जङ-जुङ शब्द-कोश में जङ-जुङ भाषा की चार महा भाषाओं और पाँच लघु भाषाओं का उल्लेख है। फुग-पइ-कद, बर-पइ-कद, गो-पइ-कद और फल-पइ-कद को महाभाषा कहा गया है और पाँच लघु भाषाओं में दर-मइ-कद, दिर-मइ-कद, दर-मइ दिर-गि डा, गुगेइ-डा तथा फल-पइ डा हैं। दर-मइ, दिर-मइ और दर-मइ दिर तो स्पष्ट ही उत्तराँचल के भोट समुदायों की बोलियाँ हैं और गुगेइ डा भी पश्चिमी तिब्बत के गुगे जङ-जुङ और पु-रङ् की बोलियाँ हैं। परन्तु अब इन क्षेत्रों से ये बोलियाँ लुप्त हो गई हैं और यहाँ तिब्बती भाषा ने स्थान ले लिया है।

भारतवर्ष में जङ-जुङ जातियाँ

तिब्बती बोन साहित्य में जिस जङ-जुङ भाषा का वर्णन किया जाता है, वह प्राचीन भारतीय ग्रंथों में वर्णित किन्नर-किरात जातियों की भाषा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। सौभाग्य से आज किन्नर कहे जानेवाले लोग हिमाचल प्रदेश के ज़िला किन्नौर में कनोरे या कनोरा के प्राचीन नाम से आबाद हैं। उनकी बोलियाँ अथवा भाषाएँ भी बोन साहित्य में उल्लिखित जङ-जुङ भाषा से मिलती-जुलती हैं, जो इन धारणाओं की पुष्टि के लिए पर्याप्त साक्षी हैं। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने कनोरों को किन्नर कहकर

अपनी पुस्तक 'किन्नर देश' में इनकी खूब व्याख्या की है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जिन पाश्चात्य और तिब्बती विद्वानों ने जङ-जुङ प्रदेश और भाषा पर अनुसंधान किए हैं, वे केवल 'एक तरफा' तिब्बती विषय को सम्मुख रखकर ही किए गए हैं। उन्होंने किन्नर-किरात भाषा पर भारतीय और नेपाली दृष्टि से परिचय देने का प्रयत्न नहीं किया है और न ही भारतीय और नेपाली इतिहास के साथ जोड़कर अनुसंधान किए हैं। अतः यह पक्ष अब तक अछूता ही रह गया है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन का पक्ष भी केवल प्राचीन भारतीय इतिहास को लेकर रहा है। उन्होंने तिब्बती पक्ष की ओर कलम नहीं उठाई है।

किन्नर जाति के साथ-साथ प्राचीन भारतीय साहित्य में किरात जाति का भी वर्णन आता है। अनुमानतः किरात और किन्नर एक ही जाति के विभिन्न नाम, काल भिन्नता या क्षेत्र विशेष के कारण सामाजिक वर्गीकरण के लिए किए गए होंगे। क्योंकि किन्नरों और किरातों की भाषाओं में कोई भिन्नता नहीं दिखाई देती है। बौद्ध साहित्य में ऐसा प्रसंग आता है कि महामानव बुद्ध के प्रवचनों का श्रवण करने किन्नरराज अपनी मंडली समेत आते थे और श्रद्धापूर्वक बुद्ध की परिक्रमा कर एक ओर बैठकर ध्यानपूर्वक बुद्ध वचन को सुनते थे। बौद्ध सूत्र 'विमान वत्थु' में किरातों की बस्ती का वर्णन चन्द्रभागा नदी क्षेत्रों में होने का आया है। मध्य युग में किरातों द्वारा कश्मीर पर आक्रमण करने का वर्णन 'राजतरंगिणी' में दर्ज़ है। चम्बा वंशावली में भी कीरा (किरात) लोगों द्वारा चम्बा-ब्रह्मपुर पर कब्ज़ा करने का ज़िक्र है। कांगड़ा में भी किरातों का शासन रहा है। बैजनाथ (मंडी) के शिव मंदिर की दीवार पर लिखे शिलालेख में बैजनाथ का नाम किरग्राम अर्थात् 'किरातों का नगर' आया है। अफगानिस्तान के इतिहास में भी काबुल दरिया तक किरात जाति के लोगों के आने का ज़िक्र है।

प्राचीन नेपाल के इतिहास से यह स्पष्ट हो जाता है कि नेपाल के आदि शासक किरात ही थे। गोपालराज वंशावलि, जिसको 1387-1390 ई. में संस्कृत और नेवारी दोनों भाषाओं में लिखा गया है, उसमें ज़िक्र आया है कि आरम्भिक काल में नेपाल पर दो घुमन्तू पशुपालकों, गोपाल और महेशपाल राजवंशों ने राज किया था, जो किरात जाति के थे। इस कुल के 32 राजाओं ने 1903 वर्ष और 8 मास तक नेपाल पर राज किया। उसके बाद लिच्छिवियों का राज रहा, जो भारतीय मूल के थे और उन्हें बुद्ध के समकालीन माना जाता है। इन लोगों ने किरात शासकों को युद्ध में हराकर उन्हें पूर्व की ओर

खदेड़ दिया था।

इन समस्त तथ्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन समय में, बौद्ध काल और उसके पूर्वकाल में किन्नर-किरात जाति उत्तरी भारत और नेपाल में एक शाक्तिशाली समुदाय के रूप मे संगठित थी और बहुत लम्बे-चौड़े क्षेत्र में इनका अपना स्वतन्त्र स्वशासित राज्य स्थापित था। अपने लड़ाकू बल के सहारे पड़ोसी राज्यों पर भी वे आक्रमण किया करते थे। इससे हम यह परिकल्पना कर सकते हैं कि प्राचीन काल में उनकी अति उन्नत धार्मिक तथा सामाजिक संस्थाएँ उत्तरी भारत में स्थापित थीं और उनकी सुदृढ़, सुसंगठित और सुव्यवस्थित शासन प्रणाली भी थी।

मूल जङ-जुङ निवासी

यह विषय अधिक जटिल होकर विशेष अनुसंधान की अपेक्षा रखता है। कुछ विद्वानों का मत है कि ये समुदाय पूर्व की ओर से तिब्बत में प्रवेश करनेवाले प्रथम मानव समुदाय हैं, क्योंकि इनकी भाषा में पुरातन चीनी भाषाओं जैसे कि सि-हिआं, मि-ञग और लोलो तथ मोसे अथवा नखी भाषा का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। हम जानते हैं कि नखी मूलतः तिब्बत के उत्तर-पूर्वी सीमा क्षेत्र में निवास करते थे और प्राचीन जङ-जुङ वासी कोको नोर से लेकर तिब्बत और जङ-जुङ पठार होते पश्चिमी हिमालय तक फैले हुए थे। हाल में पश्चिमी हिमालयी भाषाओं का सम्बंध जङ-जुङ भाषा से होने पर, इनको हिमालथी आदिवासियों के साथ जोड़ कर देखा जा रहा है और कुछ लोग इन्हें तिब्बत के आदिवासी भी मान रहे हैं।

भारतवर्ष में प्राचीन काल में प्रविष्ट हुए बाहरी विस्थापकों में किन्नर-किरात जाति के समुदाय भी थे, जो तिब्बत में बसे जङ-जुङ समुदाय के संगे सहजातीय थे। इनके विषय में भारतीयों का ज्ञान अति अल्प है। केवल इतना कहा गया है कि किन्नर समुदाय– *'देवयोनी विशेष के हैं, और इनका शरीर मनुष्य के समान, पर सिर घोड़े जैसा होता है।'* इस समुदाय को गाने और बजानेवालों तक ही सीमित कर रखा है। परन्तु प्राचीन मन्दिरों के दरवाज़ों की चौखटों में अप्सराओं और देवियों के अन्तर्गत इनकी मूर्तियाँ उकेरी और अंकित मिलती हैं। इससे यह प्रमाणित होता है कि प्राचीन काल में किन्नरों और किरातों को धार्मिक मान्यता प्राप्त थी और इतिहासकारों द्वारा अब तक इन पर कोई गंभीर अनुसंधान नहीं किए गए हैं। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने अपने यात्रा विवरण 'किन्नर देश' में हिमाचल प्रदेश की उत्तरी सतलुज घाटी में कनोरों सम्बंधी विवरण लिखा है कि– *वर्तमान कनोरे ही प्राचीन*

किन्नर जाति के लोग हैं, जो काल के थपेड़े सहते-सहते मैदानी भाग से सिकुड़ कर दुर्गम हिमालय के कुछ भू-भागों में ही बचे हैं।

इतिहास पूर्व कालों में ये जन-समुदाय समूचे उत्तरी भारत में इधर से उधर विचरते हुए फैले थे। महाकाव्य काल में इनकी राजनैतिक और राष्ट्रीय समुदाय के रूप में अलग पहचान थी। मध्य काल में इनकी शूरवीर सेनाओं ने पश्चिमी हिमालय के राज्यों को रौंद कर अपनी शक्ति का लोहा मनवाया था। इन लोगों ने तिब्बत के मार्ग से हिमालय को पार कर भारतवर्ष में प्रवेश किया होगा, इसकी संभावना कम लगती है।

अनुमानतः ये लोग उत्तर-पूर्व की ओर से अराकान की पहाड़ियों को पार कर लोहित नदी क्षेत्रों से होते हुए भारत में गंगा और सिंधु के मैदानों तक पहुँचे होंगे और यहाँ इनका मेल-मिलाप प्राचीन भारतीय आदिवासियों-मुण्डास और संथाल जातियों के साथ हुआ होगा। इसके बारे कुछ सामग्री भी किन्नौर में चिनी (कल्पा) स्थित मोरावियन मिशन के पादरी जे. ब्रुसकी ने इकट्ठी की थी। जब वह किन्नौरी बोलियों का अध्ययन कर रहे थे तो उस समय उन्हें छोटा नागपुर की मुंडा जातियों की बोलियों का प्रभाव विशेष रूप से किन्नौरी शब्द संरचनाओं और व्याकरण के नियमों में मिला था। यह सूचना उन्होंने जी. ए. ग्रीयर्सन को भेजी थी, जिसे उन्होंने भारतीय भाषा सर्वेक्षण में संगृहीत किया था। इस सम्बंध में अभी बहुत खोज करने की आवश्यकता है।

जैसा ऊपर कहा गया है कि भारत और नेपाल के हिमालयी आदिवासी, किन्नर और किरात समुदायों के लोग जो पश्चिमी तिब्बत के जङ-जुङ (किन्नर-किरात) जाति समुदाय के सगे भाई-बन्धु हैं, इन को लेकर शोध कार्य न के बराबर हुए हैं। महापंडित राहुल सांकृत्यायन तथा डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी ने इन पर कुछ रोशनी डाली है। डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी ने भारत की उत्तर-पूर्वी नागा जनजाति के बारे विचार व्यक्त किया है–

नागा भारतीय मंगोल जाति से सम्बंध रखनेवाले जनजातीय समुदाय हैं। इनका विवरण प्राचीन संस्कृत साहित्य में बारंबार आया है और ये किरात जनजाति के अतिरिक्त अन्य नहीं हो सकते हैं। इस समुदाय के बारे में प्राचीनतम विवरण यजुर्वेद में इस प्रकार आया है–

'गुहाभ्याह किरातः सनुभयो जम्भाकम्, पर्वतेभ्याह किम्पुरूखम्।'

–किरात के लिए गुफा, जम्भक (long toothed man) के लिए पहाड़ी ढलान, किम्पुरुष (a wild man, an ape) के लिए पहाड़।

अथर्ववेद में भी किरात बालाओं द्वारा पहाड़ों में औषध-बूटियों को खोदने

का विवरण मिलता है।

किरातिक कुमारिकासाकं खनाति भेषजम्।

हिरनयायि भीर अभरिभीर गिरीनम उप सनुसु।।

—किरातों की बालाएँ, छोटी कन्याएँ औषधि-बूटियों को खोदती हैं। स्वर्ण जड़े खुरपों से ऊँचे पर्वतों की रीढ़ियों पर खोदती हैं।

महाभारत में किरातों को पहाड़ी जन कहा गया है जो पूर्वी हिमालय में बसे हैं। पांडव भीमसेन द्वारा एक विजय अभियान में सात किरात शासकों को हराने का विवरण मिलता है। महाभारत में ही परागज्योतिष (कामरूप) का राजा भागदत्त अपनी लड़ाकू किरात सेनाओं के साथ कुरुक्षेत्र की युद्ध-भूमि में कौरवों के पक्ष में लड़कर पराजित हुआ था।

डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी ने एक अन्य लेख में किरातों की व्याख्या इस प्रकार की है--

"किरातों की जीवन पद्धति सरल थी। ये लोग अधिकतर फल और कन्द-मूल पर गुज़र-बसर करते थे। जानवरों की खालों को पहनते और बालों को सिर पर गाँठ लगाकर चोटी की भांति बाँधते थे। ये लोग प्रसन्नचित रहनेवाले थे, परन्तु इनके शस्त्र भयानक और युद्ध में ये नृशंस होते थे।

ऐसा जाना जा सकता है कि भारतीयों को किरात समुदाय का परिचय ईसा पूर्व या ईसा की प्रथम शताब्दी में हुआ होगा। इनका मूल स्थान हिमालय के पूर्वी पर्वतीय क्षेत्र आसाम में था। ये लोग देखने में पीतवर्णी थे, और अन्य भारतीयों से सामाजिक और धार्मिक रूप से भिन्न थे। ये लोग समूचे बंगाल के मैदानी भागों में समुद्र-तट तक फैले हुए थे और पश्चिमी बंगाल के भीतरी भाग तक भी घुस चुके थे। इन लोगों का निवास प्राकृतिक धन, खनिज सम्पदा और वन उपज के धनी क्षेत्रों में पहाड़ियों और वनों में होता था। वे वस्त्र आदि की बुनाई के कार्यों में निपुण थे, जिनकी माँग अन्य लोगों में भी अधिक थी।"

बोन धर्म का प्रारम्भिक रूप

बौद्ध-धर्म काल में प्राचीन देश जङ-जुङ और तिब्बत में कौन-सा धर्म रहा होगा? इस पर पौराणिक कथाओं और श्रुत इतिहास से हमें ज्ञात होता है कि इस देश का प्राचीन धर्म बोन-छोस अर्थात् बोन धर्म था। इस धर्म के अनुयायी आज मुट्ठी भर ही रह गए हैं। आज इन बोन आचार्यों और लामाओं की, बौद्धधर्मी लामाओं से पहचान करना कठिन जान पड़ता है। साधारण-जन को इनकी वेश-भूषा, पूजा-पद्धति और अनुष्ठानों को देखकर बोन धर्मियों और

बौद्ध पद्धतियों को भिन्न रूप से पहचान पाना कठिन है। बोनपो लोगों ने बौद्धों का अनुसरण कर अपने विहारों, पूजा-पद्धतियों और अनुष्ठानों को पूर्णरूपेण बौद्धमय कर दिया है। विहारों की बनावट, चीवरधारी भिक्षुगण, मूर्तियों और चित्रकला में समानता लगती है। बोन विहारों के मुख्य प्रवेश की छतों पर बौद्धों का प्रसिद्ध चिह्न 'धर्म चक्र और दो मृग', सारनाथ के ऋषि पतन मृगदाव को दर्शाता है, जहाँ शाक्य मुनि बुद्ध ने प्रथम बार पाँच भिक्षुओं को धर्म का उपदेश दिया था। सभागारों और मंदिरों के विशिष्ट स्थानों में बुद्ध के विख्यात प्रवचन उद्धृत किये रहते हैं–

ये धर्मा हेतु प्रभवा हेतुस्तेषां तथागतो ह्यवदत्।।

तेषां च यो निरोधो एवं वादी महाश्रमणः।।

जब बौद्ध धर्म ने राजाश्रय पाने के पश्चात् तिब्बत में अपनी जड़ें मजबूत कर दी थीं तो बोनपो लोगों को अपने धर्म की रक्षा के लिए इसे अपनाना पड़ा होगा, ऐसा स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। इस नवगठित धर्म का नाम युङ-डुङ बोन अर्थात् स्वास्तिक बोन रखा गया। इसी प्रकार भारत में भी मध्य युग के आरम्भ में हिन्दू तन्त्र विद्या के प्रचार से प्रभावित होकर बौद्ध मत के लोगों ने अपने धर्म में हिन्दू तन्त्र विद्या का समावेश किया, जिसे बौद्ध तंत्र का नाम दिया गया। तत्पश्चात् इसे सहजयान और सिद्धवाद भी कहा गया।

यहाँ हम आरम्भिक या आदिम बोन धर्म की चर्चा करने जा रहे हैं। जो यर-लुङ् वंशीय तिब्बती नरेश स्रोङ्-चन-गम्पो के पूर्व कालों में रहा था।

साधारणतः बोन छोस अर्थात् बोन धर्म की गिनती संसार के आदिम धर्मों में की जाती है। अनुमानतः इसका आरम्भ लौह युग में प्राकृतिक शक्तियों–पंच महाभूतों, जिनके द्वारा संसार के प्रत्येक प्राणी तथा पदार्थ गतिमान होते हैं– की पूजा और स्तुतिगान आदि से होता है। इससे अलौकिक शक्तियों को प्रसन्न करने की चेष्टा की जाती है। कालांतर में ये मान्यताएँ आस्था में बदल गईं और इससे पूजा करनेवालों का एक अलग वर्ग या श्रेणी बन गई। इन्हें हम विभिन्न नामों गूर, धामी, ग्रोक्च, म्योन-बा, ल्हापा, औजा और चेला के नाम से जानते हैं। पश्चिम के लोगों ने इसे शमनीज़म (Shamanism) का नाम दिया तो भारतीयों ने इसे सनातन धर्म कहा है। महामानव बुद्ध ने इसे स्वास्तिक धर्म का नाम दिया था। यही प्राचीन धर्म कालांतर में देवी-देवताओं की पूजा-अर्चना करने के साथ-साथ विशेष अनुष्ठानों का आयोजन करने लगा।

ध्यातव्य है कि आरम्भ में देवी-देवताओं के पूजा-गृह अर्थात् मंदिरों में

किसी प्रकार की देव-मूर्तियाँ स्थापित नहीं होती थीं, केवल कुछ पूजा का सामान रहता था, जिनमें वाद्य यन्त्र, ज़री, धूपदानी और कपड़ों की कतरन तथा पताकाएँ ही एक विशेष स्थान पर सजाये होते थे। कालान्तर में अन्य धर्मों के प्रभाव से देव-स्थानों में बोन धर्म के प्रवर्तक तोन-पा शेन-रब और देवी-देवताओं की मूर्तियाँ स्थापित होने लगीं। सनातन बोन धर्म के माननेवाले पश्चिमी तिब्बत (जङ-जुङ), हिमालय क्षेत्र, मध्य एशिया और मंगोलिया के दक्षिण पूर्वी क्षेत्रों में थे। आज सनातन बोनधर्म के माननेवालों का एक समुदाय पश्चिमी हिमालय और नेपाल में है। ये लोग आज भी अपने-अपने क्षेत्रों के देवी-देवताओं पर पूर्ण रूप से आस्था रखते हैं। यदि हम इस देव-आस्था पर शोध करें तो यह आस्था किसी आधुनिक भारतीय व तिब्बती धर्म से भिन्न लगेगी। सम्भवतः यही पौराणिक बोन धर्म था।

बोनपो परम्परानुसार बोन शास्ता शेन-रब मि-वो तग-ज़िक देश (ईरान) के एक महान धार्मिक नेता थे और उस समय ईरान का धर्म जोराष्टर अर्थात् अतिप्रशस्त था। संभवतः इसी धर्म का प्रचार शेन-रब ने जङ-जुङ राज्य में किया हो। इस बारे हमारा ज्ञान नहीं के बराबर है। गत शताब्दी में बालतिस्तान के एक विद्वान गुलाम हसन लोबजङ् ने उर्दू में एक पुस्तक 'फलस्फा-ए-बोन-मत' लिखकर यह साबित करने की कोशिश की है कि लद्दाख, बालतिस्तान और गिलगित में प्राचीन समय में बोन धर्म का बोलबाला था। इस पुस्तक का विशेष लेख प्रश्नोत्तर के रूप में 'सोमालेक' की सृष्टि रचना के बारे में है। यह 'सोमालेक' कौन मनीषी थे, उसके बारे लेखक स्वयं भी अनभिज्ञ हैं। सम्भवतः यह मनीषी बोन तन्त्र के प्रवर्तक 'मि-लुस सम-लेग' ही हों, जिनके नाम का अंग्रेज़ी में भाषांतर ह्यूमन बाडी गुड थॉट (Human Body good thought) है। उनकी तांत्रिक पुस्तक का अंग्रेज़ी में अनुवाद किया गया है। एक अन्य एन्जल गुड-थॉट (Angel good thought) का ज़िक्र जोराष्टर की उपदेश गाथा में भी मिलता है।

अनुमानतः 'फलसफा-ए बोन मत' का सोमा लेक, तिब्बती बोन तंत्र के प्रवर्तक मि-लुस सम-लेग और जोराष्टर धर्म के एन्जल गुड थॉट (Angel good thought) एक ही व्यक्ति के भिन्न-भिन्न नाम रहे होंगे।

बोन साहित्य में शब्द बोन का जङ-जुङ भाषान्तर 'गेर' दिया गया है, इसका अर्थ 'आह्वान' दिया है। पुनन बोली, जो जङ-जुङ भाषा की एक उपबोली है, इसमें गेर का शाब्दिक अर्थ 'भय या संयम' है। मेरी इस बारे में एक भिन्न व्याख्या है कि यह संस्कृत शब्द 'ब्राह्मण' के नेपाली और पहाड़ी

अपभ्रंश 'बौन या बाहुन' से बना है और इस शब्द का अर्थ पंडित और पुजारी है।

मुझे आरम्भिक बोन धर्म का मूल समूचे हिमालयी क्षेत्र के जनजातीय समुदायों द्वारा एक सनातन आस्था 'देववाद' अर्थात् देवी-देवताओं पर सम्पूर्ण श्रद्धा और आस्था में निहित दिखाई दे रहा है। गहन अनुसंधान होने पर यह सत्य खुल कर सामने आ जाएगा। यहाँ मैं केवल हिमाचल प्रदेश से नेपाल तक की देव-आस्था पर रोशनी डालना चाहूँगा। लाहुल के शीर्षदेव 'राजा गेपङ सद' को बोन धर्म का एक महत्त्वपूर्ण धर्मपाल गिना जाता है। बोन ग्रंथों में इसे 'ग्यल-पो नि-पङ् सद' कहा गया है। 13वीं शताब्दी में निर्मित नेपाल के दोलपो क्षेत्र के बोन मंदिर सम-तन-लिङ का मुख्य धर्मपाल 'ग्यल-पो नि-पङ सद' कहा गया है। कुमाऊँ में इसे कैपङ देव के नाम से पूजते हैं।

किन्नौर के कानम और पूह के ग्राम-देवता का नाम डबला है। हम जानते हैं कि डब-ला बौद्ध देवता नहीं, बल्कि प्राचीन बोन देवता को बौद्ध लामाओं ने अपने देवताओं की पंक्ति में शामिल कर लिया था। कानम के डब-ला देवता का तो गत शताब्दी के चौथे दशक में श्रद्धेय डो-मो गेशे लाभा ने एक अन्य नाम चग-रू-चन दिया था और पूह के डब-ला को ठो-मो (स्त्री) नाम दिया था। डबला का शाब्दिक अर्थ 'नादात्मा' है।

बोन और तिब्बती बौद्धों में स्थानीय देवी-देवताओं की एक बहुत लम्बी सूची है। इन समस्त देवी-देवताओं का सम्बंध प्राचीन बोन मत और हिमालयी देव-आस्था के साथ जुड़ा है। सनातन बोन धर्म के प्राचीन देवी-देवताओं की पूजा-अर्चना सम्भवतः पशु बलि प्रथा से होती रही होगी। परन्तु अब बौद्ध धर्म के प्रभाव से यह प्रथा किन्नौर और लाहुल-स्पीति में समाप्त प्रायः लग रही है। बाह्य हिमालय क्षेत्रों (कुल्लू और शिमला की पहाड़ियों) में पशुबलि प्रथा आज भी है। इसके विरोध में कुछ लोगों ने आवाज़ उठाई, परन्तु इस प्रथा पर विशेष प्रभाव अभी तक नहीं हुआ।

कुछ वर्ष पूर्व तक तिब्बत की राजधानी ल्हासा में एक अनोखा नरबलि का अनुष्ठान 'लुद गोङ ग्यल-पो' सम्पन्न किया जाता था। इस अनुष्ठान में पोताला प्रासाद से रस्सी पर एक पुरुष को नीचे बाज़ार तक सरका दिया जाता था। इस अनुष्ठान का अभिप्राय समूचे तिब्बत राज्य को पैशाचिक दोषों से मुक्ति दिलाने हेतु होता था। इस प्रकार के अनुष्ठान पश्चिमी हिमालय के देव-मंदिरों में 'भूंडा' और 'काहिका' नाम से आज भी सम्पन्न किये जाते हैं, इनका अभिप्राय भी पैशाचिक दोषों से क्षेत्र विशेष को मुक्त करना होता है।

इस अनुष्ठान का सम्बंध प्राचीन बोन धर्म के साथ अत्यन्त गहरा लगता है। सुदूर चीन की सीमा के साथ तिब्बत के रेब-कोङ क्षेत्र के लोग ऊँचे पर्वतों से विशेष जंगली पुष्पों को इकट्‌ठा कर देव-मन्दिरों में इन पुष्प-गुच्छों को अर्पण करके अपने देवी-देवताओं की पूजा किया करते हैं। यही प्रथा किन्नौर और कुल्लू में अपने आराध्य देवों की पूजा के लिए प्रचलित है। इस प्रथा को किन्नौर में 'उख्यङ' कहा जाता है। तिब्बत के रेब-कोङ क्षेत्र के निवासी अपने आराध्य देवताओं का सम्बंध बोन देवता के साथ जोड़ते हैं। इससे यह प्रमाणित हो जाता है कि हिमालयी क्षेत्र के लोगों के आराध्य देवी-देवता भी प्राचीन बोन धर्म से सम्बंध रखते थे। देव-गूरों द्वारा वर्ष के लिए पेशीनगोई करना, देव नृत्य के समय वाम-चक्र काटना, यह सब प्राचीन बोन धर्म के हिमालयी देव आस्था के साथ गूढ़ सम्बंध को दर्शाता है।

कुल्लू के अति दुर्गम क्षेत्र मलाणा को लेकर उल्लेखनीय है कि मलाणा के निवासी अपने आराध्य देवता जमलू के अधीन, जीवन के प्रत्येक कार्यों को पूर्ण करते हैं। यहाँ के निवासी अपने को आराध्य देव जमलू की 'हार' यानी प्रजा मानते हैं। यहाँ देव मंदिर में जमलू देवता को दर्शाने के लिए एक खड्‌ग की पूजा होती है। ठीक इसी प्रकार तिब्बत के रेब-कोङ निवासी भी अपने आराध्य देवों की खड्‌ग के रूप में पूजा करते हैं।

गत शताब्दियों से मलाणा निवासियों की सभ्यता को लेकर लोगों में बहुत-सी भ्रान्तियाँ तथाकथित शोधकर्ताओं ने फैलाई हैं। यहाँ के आराध्य देव जमलू का नाम बदलकर जमदग्नि ऋषि कर दिया है। यहाँ के देव कोष में रखी एक मूर्ति को सम्राट अकबर मानकर जमलू का नाम जमालदीन या जलाल-उद्-दीन करने का प्रयत्न भी कुछ लोगों द्वारा किया गया है। मलाणावासियों की भाषा जिसे 'कणाशी' कहते हैं, इसे संसार की किसी भी भाषा से असंबद्ध माना है। कुछ शोधकर्ताओं द्वारा इसे राक्षसी भाषा का नाम दिया गया है। परन्तु सत्य तो यह है कि ये कणाशी भाषा तिब्बती-वर्मी भाषा परिवार की एक उपबोली है और इस उपबोली का सम्बंध लाहुल की 'पटनी' उपबोली और किन्नौर की 'शुभ-छो' उपबोली से है। अभी तक मलाणा समाज में हिन्दू या बौद्ध धर्मों का समावेश देखने को नहीं मिला है। अधिक सम्भावना है कि इस समाज ने अभी तक प्राचीन बोन मान्यताओं को अपनी आस्था में संजोए रखा हो। भावी पीढ़ी को इसकी पड़ताल करनी होगी। इस प्रकार शताब्दियों से विस्मृति के गर्भ में डूबी यहाँ की संस्कृति प्राचीन बोन धर्म पर रोशनी डालने में सक्षम सिद्ध हो सकती है।

वर्तमान अनुसंधानों और खोजों से यह तथ्य उभरकर सामने आया है कि जङ-जुङ समुदाय संसार की प्राचीनतम विकसित मानव जातियों से सम्बंधित है। इनकी आस्था– 'देववाद' का उदय, सम्भवतः मानव सभ्यता के उषाकाल से ही आरम्भ होता हो। सम्भवतः सनातन बोन धर्म को संसार के प्राचीन धर्म होने का श्रेय भी प्राप्त है।

वर्तमान में जङ-जुङ भाषा के अनुसंधित्सुओं ने देववाद और बोन धर्म तथा किन्नर-किरात संस्कृति पर मूल्यवान सामग्रियाँ एकत्रित की हैं। साथ ही तिब्बती-वर्मी भाषा का तुलनात्मक अध्ययन तिब्बती-चीनी भाषा परिवार के साथ कर जङ-जुङ समुदाय के मूल को खोजने का प्रयास भी किया है। अब तक पुरातत्त्वीय इतिहासकार इन समुदायों का मूल खोजने में असमर्थ रहे हैं। सम्भवतः भाषाविद् इनके पूर्व इतिहास काल को ढूँढने में सफल हो जाएँगे। सम्भवतः ये दूरगामी खोजों की कड़ियाँ सिंधु सभ्यता के अनसुलझे ऐतिहासिक प्रश्नों की कड़ियों को भी जोड़ने में सक्षम सिद्ध हो सकेंगी।

तिब्बती-बर्मी भाषा का वर्गीकरण

शेफर द्वारा हिमालयी तिब्बती-वर्मी भाषा का वर्गीकरण : (शेफर 1966, नीशी द्वारा पुनर्व्याख्यायित 1990) भाषा का नाम ब्रेकिट में दिया गया है, जबकि इनकी बोलियों को चौकोर ब्रेकिट में दिखाया गया है।

बोधिश खंड

- बोधिश विभाग
  - गुसङ् शाखा (तमङ् समुदाय) (गुसङ, तमङ् थकाली)
- पश्चिमी हिमालयी विभाग
  - उत्तर, उत्तर पश्चिमी शाखा
    - (बुनन)
    - (थेवोर) (सुमचु, जेगराम, कनम, लिप्पा)
  - उत्तर पश्चिमी शाखा
    - (किन्नौर) (अप्पर, लोअर, छितकुल, टिगपा, कणाशी)
    - (मनचद) (चम्बा लाहुल, रगंलो)
  - अलमोड़ा शाखा
    - (रंकांस, धरमिया)
    - (चौडांग्स, भयांग्स)
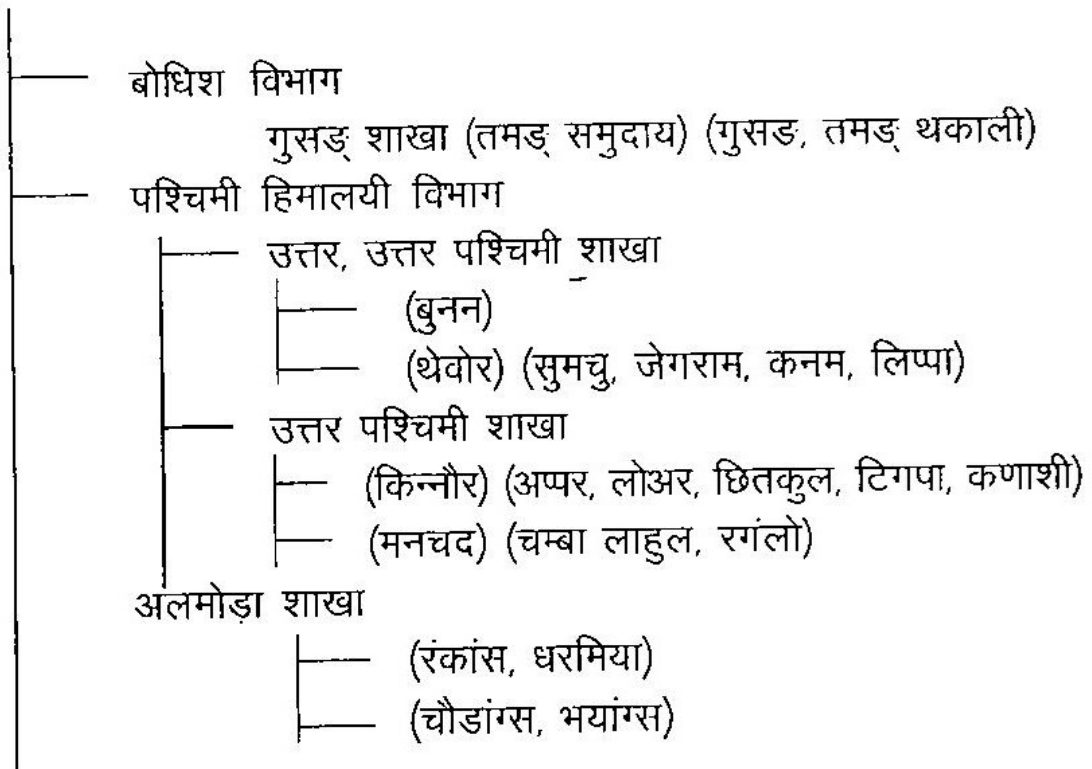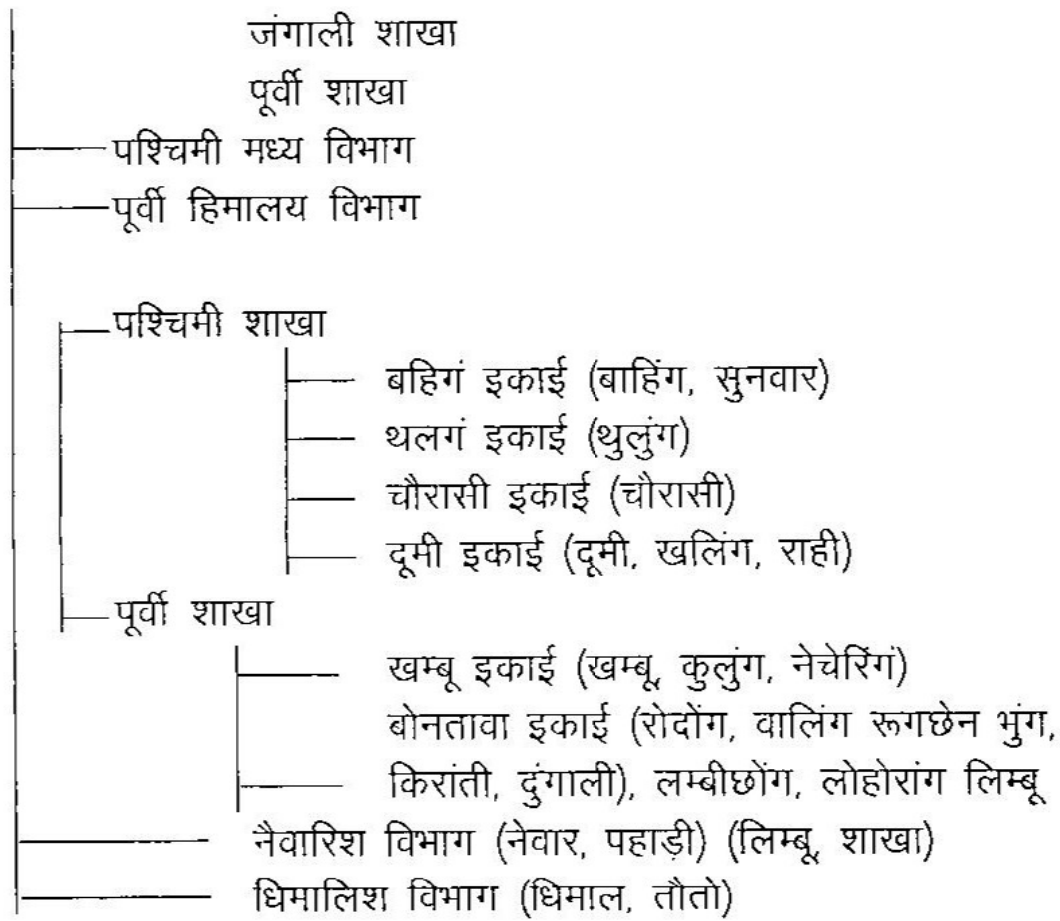
विशेष शब्द

यहाँ जङ-जुङ भाषा के उन चन्द शब्दों को दिया जा रहा है, जिन्हें मैंने नवबोन बिहार दुलान्जी के संघराज श्रद्धेय सङ-ग्ये-तन-जिन और बोन भिक्षुओं के साथ प्रथम बार उजागर किया था। ये शब्द श्रद्धेय ञिमा-डग-पा के तिब्बती जङ-जुङ शब्दकोश से लिये थे। इनका हिन्दी रूपांतर भी दिया जा रहा है–

जङ-जुङ	हिन्दी	जङ-जुङ	हिन्दी
जङ-जुङ	मुँह	ल, ला-रि	चन्द्रमा
अ-वा	पिता	लेई	पीला
हर-ना, हर-दा	स्पष्ट	लिग-पी	उत्पन्न होना (बच्चा)
ब-अल, ब-निङ	पुष्प	लिग-च्, लिग	निर्माण
चि-बु, चि	फसल, घास	लो-तिग कि	एक वर्ष
चु-तिग	ग्यारह	मु,मुहे	अम्बर
दङ-रा	सागर	मर	स्वर्ग (तामगं)
जु	मेघ	स्मर	भद्र

देई	शान्त	मङ-गि	लाल, रक्त
द्-ति, तित	झील	मिग-ति	अश्रु
ग्युम	नाक	ञि-चि्	सूर्य
ग्यु	मार्ग	र-वङ	पहाड़ी ढलान, जंगल
गे, गई	मैं,मेरो	पु, पुशा	सिर
ले	जिह्वा	रे-चा	कान
ह्रिम (hrim)	तीर	रा	एक सौ, शत
गुम, गुम–चि	कमान	लसा	मिट्टी
ह्रङ (hrang)	घोड़ा	सद	देवता
ह्रिब (hrib)	पसली	शिम, शिङ	श्वेत
		शङ-जि	बुढ़िया
ह्रि–चा (hri-tsa)	बालक	शङ-टे	बूढ़ा
खा, खई	काला	सद-मा	सद-मिर देवी
को	काया	शे-क्या, शेवे	कृपया
खोग-चि्	उदर	चु, सु, तिसु	नहाना
कुइ	कुत्ता	तिङ	फिरोज़ा
क्यु	पानी (तामंग)	तिङ-ङे	हरा
ति	पानी (मनचद)	ज़द	जो
लन	वायु	युग, युर	शीघ्र
अम	मार्ग	बेर-जि	श्रेष्ठी, धनवान
छ़म	सेतु	सिङ	काष्ठ, लकड़ी
चुम	गृह	पन, पन-ज़ा	पत्थर

संदर्भ

1. जोद-फुग (Basic verses and commentary : Dan-pa Nam-kha)
2. तिब्बती-जङ-जुङ शब्दकोश : जिमा डग-पा
3. लो-जोङ जिङ, सर तन-पा फेल-रिम कर-छग-खनपो : टशी तनज़िन
4. The Arrow and the spindle : Samtan G. Karmay
5. Sineo-Tibetan Language : Edited by G. Graham Thurgood
6. New Researches on Zhang-zhung and related Himalyan Lan guages : Edited by Yasuhita Nagano
7. Sacrifice and Lha-pa in the Glu-rol festival of Reb-slong :Sadako
8. ग्यल-शेन य-डल ग्यी बुङ-खूस : मि-ग्युर ग्यल-छ्न
9. फलस्फा-ए-बोल-मत : गुलाम हसन लोबसंग
10. Tribes of Hindoo Kush : Majar Bidalph

11. कदीम लद्दाख : काचो सिकन्दर खां
12. A study on the Chronicles of Ladakh : Dr. Luciano Petech
13. History of Western Tibet : Franke, A.H
14. On Zhang-zhung : Seigbert Hummel
15. Zan-Zan : The Holy language of Tibetan bon-p : Helmut Hoffman
16. sGrung, Deu and Bon : Namkhai Norbu
17. Dzang-Bod nGa-rabs kyi Lo-Gyus : Namkhai Norbu
18. किन्नर देश : महापंडित राहुल सांकृत्यायन
19. तुङ होङ-गि नावोई बोद-यिग : सोनम क्यिद
20. The Burushaki Language, : Lt. Col. D.L. Loriner
21. Tibet-A political history : W.D.Shakapa
22. Survery of Indian Language : Complied by G.A.Grierson
23. History of Bhutan : B. Chakravarti
24. Kailash (A Journal of Himalayan Studies)] Volume VIII 1981, Numbers, 1-2
25. Kirata-jana-kirati, The Indo-Mangoloids : Their contribution to the History and Culture of India : Dr. Suniti Kumar Chaterjei.

विपाशा : अंक -33, मार्च-अप्रैल, 2008 से

किन्नौर का सन्तङ्

पी.एन. सेमवाल

हिमाचल के कई भागों में आज भी पुरातन संस्कृति के अवशेष मिलते हैं। यहाँ गाँवों में अभी भी सामाजिक कार्य-कलापों को ऐसे सार्वजनिक स्थान पर सम्पन्न किया जाता है, जिसे बौद्ध कालीन युग में 'संथागार' कहते थे। इस प्रकार के सार्वजनिक स्थान का उपयोग सामूहिक क्रिया-कलापों जैसे नृत्य, मेले-उत्सव, देवता के दर्शन व पूजन आदि के लिए किया जाता है। ऐसे कार्यों में गाँव के सभी लोग, आबाल-वृद्ध, सम्मिलित होते हैं। हिमाचल प्रदेश के किन्नौर जिले का सन्तङ् और चमोली-गढ़वाल में प्रचलित 'धात' उसी प्राचीन नाम व संस्था के अवशेष और रूपान्तर हैं।

बुद्ध के समय में हिमाचल की तराई में कई जनजातीय प्रजातांत्रिक राज्य थे। बुद्ध स्वयं एक ऐसे गणराज्य में उत्पन्न हुए थे। उनके अड़ोस-पड़ोस में भी कई गणराज्य थे। इन सभी गणराज्यों में, चाहे उनका ढाँचा जनजातीय हो या संवैधानिक, एक संसद-भवन होता था, जिसको पाली भाषा में संथागार और संस्कृत में 'संस्थागार' कहते हैं। गणराज्य व्यवस्था और न्यायिक कार्य संथागार में सम्पन्न होते थे। इसमें गणराज्य के सभी सदस्य सम्मिलित होते थे। बौद्ध वाङ्मय के साधिकारिक विद्वान रायस डेविड का कहना है कि जब आनन्द 'मल्लों' को बुद्ध के महापरिनिर्वाण को प्राप्त होने का दुःखद समाचार लेकर आये तो मल्ल गणराज्य के सदस्यों ने संथागार में ही इस विषय पर विचार किया था। बुद्ध ने अपने जीवन काल में हिमाचल की तराई में कई गणराज्यों और संघों में धर्मप्रचार किया। यूनानी लेखकों के अनुसार सिकन्दर के आक्रमण के समय पंजाब में बड़े-छोटे कई गणराज्य थे। इन गणराज्यों की विशिष्ट समानता यह थी कि प्रत्येक का अपना संसद और सभा भवन याने संथागार होता था। संथागार भवन का निर्माण भी एक महत्त्वपूर्ण घटना मानी

जाती थी। कपिलवस्तु में बुद्ध ने स्वयं एक संथागार का उद्घाटन किया था। जब बुद्ध न्यग्रोधाराम में ठहरे थे, तब वहाँ एक संथागार बनकर तैयार हुआ। इस संथागार में सभी धर्मों के आजीवकों, साधुओं के ठहरने की व्यवस्था थी। बुद्ध ने इस संथागार का उद्घाटन सारी रात धर्मोपदेश देकर किया था।

किन्नौर के प्रत्येक गाँव में एक सार्वजनिक स्थान होता है। इसको सन्तङ् कहते हैं। इस स्थान पर ग्रामीण समाज समय-समय पर मनोविनोद और सामूहिक समस्याओं पर विचार करने के लिए एकत्र होता है। गाँव के देवता का सन्तङ् से घनिष्ठ सम्बंध होता है। देवता यहाँ के लोगों के जीवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। मन्दिर का प्रांगण भी प्रायः सन्तङ् कहलाता है। सभी त्योहार, उत्सव, जन्म-मरण से सम्बंधित संस्कार आदि सन्तङ् में सम्पन्न होते हैं। यहाँ देवता की संकल्पना एक अदृश्य शक्ति की धारणा से भिन्न है। वस्तुतः देवता यहाँ शासक है, जो अपनी प्रजा के साथ मानवीय ढंग से व्यवहार करता है। उनके साथ खाता-पीता है, नाचता-गाता है और साथ ही उनका नियंत्रण और मार्ग-प्रदर्शन भी करता है।

देव-शक्ति का मानवीकरण याने उसको मानवीय रूप, गुण और व्यवहार से सम्पन्न करना, जितना यहाँ हुआ है, शायद ही अन्यत्र हुआ हो। प्रत्येक देवता की ओर से एक ऐसा व्यक्ति होता है, जिस पर आवश्यकता पड़ने पर यह देव-शक्ति अवतरित होती है। ऐसे व्यक्ति को 'ग्रोक्च' कहते हैं। जब भी देवता से परामर्श करना हो तो ग्रोक्च पर देव शक्ति अवतरित होती है। यह प्रक्रिया इस प्रकार है– सन्तङ् में ढोल, शहनाई, झाँझ आदि वाद्य-वृन्दों की सरस ध्वनि और लय के साथ चार वाहकों के कन्धों पर रखी, देवता की पालकी नाचती है। पुजारी कुछ शब्दों के उच्चारण से देव-शक्ति का आह्वान करता है। तब ग्रोक्च काँपता है, उछलता-कूदता है और उन्माद की-सी स्थिति में पहुँचता है। इस प्रकार सम्मोहन की अवस्था में ग्रोक्च जो कुछ बोलता है वह देव वचन और दैवीय आज्ञा मानी जाती है। तब पुजारी दुभाषिये और मुखत्यार का काम करता है। लोगों की समस्याओं को देवता के विचारार्थ प्रस्तुत करता है और तत्काल दैवीय निर्णय प्रार्थियों को सुनाता है। देवता, सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन की सभी समस्याओं पर अपना निर्णय देता है। वह भूत-प्रेतों को भगा सकता है, दुःख-बीमारी से मुक्त कराता है। बारिश ला सकता है। विवाह आदि की स्वीकृति देता है। भूमि को उपजाऊ बना सकता है। निःसन्तान को सन्तान देता है। संक्षेपतः जीवन में कोई ऐसा काम नहीं जिसको देवता न कर सकता हो।

मन्दिर का सन्तङ् इन सब कामों की रंगभूमि है। ग्रामीण समाज के सांस्कृतिक, धार्मिक व मनोविज्ञान सम्बंधी सभी सामूहिक कार्य सन्तङ् में सम्पन्न होते हैं। दैवीय न्याय, अपराधियों को दंड और सामाजिक नियंत्रण का निर्धारण भी यहीं होता है। इन कार्य-कलापों से ग्रामीण समाज की एकता सन्तङ् में मूर्तिमान होती है।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि अज्ञात अतीत से सन्तङ् सामाजिक जीवन का केन्द्र-बिन्दु रहा होगा। इसमें होनेवाले कार्य-कलाप संथागार से भिन्न नहीं हैं, और न ही सन्तङ् शब्द अपने मूल-शब्द संथागार से बहुत भिन्न या विकृत है। इसमें कोई संदेह नहीं कि संथागार की संस्था जनजातीय जीवन में एक महत्त्वपूर्ण संज्ञा थी। कालान्तर में भी यह संस्था विस्मृत नहीं हो सकती थी। यदि यह धारणा सही हो कि पुरातन काल में हिमालय की जन-जातियों में गणराज्य की संस्था प्रचलित थी तो सन्तङ् नाम को संथागार का ही विकृत रूप मानना तर्क-संगत और तथ्य के अनुरूप होगा।

जिला शिमला के ऊपरी भागों में सन्तङ् का समानान्तर नाम व संस्था 'थौड़' या 'थाणी' है। यहाँ भी देव-स्थान के प्रांगण अथवा गाँव के आस-पास देवता से सम्बद्ध अर्चना के स्थान को 'थौड़' या 'थाणी' कहते हैं। इस इलाके के लोग पिछली एक सदी से भी अधिक समय में आधुनिक राज्य-व्यवस्था और कानून के अन्तर्गत रहे हैं। फलस्वरूप परम्परागत सामाजिक व्यवस्था किन्नौर की भांति अक्षुण्ण नहीं रही। अतः ग्रामीण जीवन में 'थौड़' की उतनी पुरानी महत्ता नहीं है। पर फिर भी जन-साधारण के मन में आज भी 'थौड़' के प्रति श्रद्धा और पवित्रता का भाव विद्यमान है। थौड़ में जाकर असत्य बोलना अथवा कोई अन्य पाप-कर्म करना या सोचना परम्परा से वर्जित है। थौड़ में खड़े होकर, शपथ लेकर आज भी जो अपने निरपराध, निष्पाप और निष्कलंक होने की घोषणा कर दे, समाज उसको निःसंकोच स्वीकार कर लेता है। यह परम्परा उस युग की याद दिलाती है जब संथागार में सभी विषयों और विवादों का निर्णय सत्य और निष्पक्षता के माप-दण्ड से होता था।

सीमावर्ती जिला चमोली-गढ़वाल में इसी प्रकार के पुरातन सार्वजनिक स्थान का नाम 'स्यात' या 'थात' है। यहाँ 'थात' का सम्बंध एक इलाके के कई गाँवों से है। कदाचित् इन गाँवों के गण की सभा 'थात' में होती थी। इस जिले के नागपुर परगना में, जिसमें लगभग दो सौ गाँव सम्मिलित होंगे, तीन थात हैं– बामसू थात, मैखंडा थात और परकंडी थात। अब इन पुरानी संस्थाओं और नामों का सामाजिक जीवन में कोई विशेष महत्त्व नहीं है। ये

नाम अब समाज की स्मृति में अस्पष्ट रूप से जीवित हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'स्यात' या 'थात' संथागार का ही विकृत रूप है। इसी प्रकार की व्यवस्था सिरमौर जिले में गिरी-पार के इलाके में पिछली सदी तक विद्यमान थी। यहाँ कुछ गाँवों के समूह को 'भोज' कहते थे। भोज की अपनी सभा होती थी और सभा-भवन या स्थान होता था, जहाँ सामाजिक और धार्मिक कृत्यों के लिए सभा का अधिवेशन होता था। सिरमौर गज़ेटियर के अनुसार भोज-व्यवस्था का अन्त 1894 ई. की भूमि पैमायश के उपरान्त हुआ। इन पहाड़ी इलाकों में जीवित इन पुरानी संस्थाओं की समानताओं को दृष्टि में रखते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचना तर्क-संगत प्रतीत होता है कि मूल रूप से ये अवशेष पुरातन जनजातीय गणराज्य की परम्पराओं से सम्बद्ध हैं।

ये परम्पराएँ किन्नौर के कनौरों, गढ़वाल और ऊपरी हिमाचल की खश या कनैत जाति से सम्बद्ध हैं। ये इलाके एक-दूसरे के साथ-साथ हैं। इन जातियों में समान रीति-रिवाज़ और समान आस्थाएँ हैं। कनौरे यद्यपि अलग भाषाई एकाई में हैं; परन्तु इनके देवी-देवता, मेले, नृत्य और उत्सव पुराने कनैतों और खशों से भिन्न नहीं हैं। पुरातत्त्व सर्वेक्षण के विवरण और अन्य साधिकारिक स्रोतों के अनुसार कनैत जाति वराहमिहिर संहिता में वर्णित कुलिन्द जाति की सन्तति है। एटकिंसन ने यूनानी लेखकों के आधार पर, कुलिन्दों को गंगा, यमुना, व्यास और सतलुज नदियों की ऊपरी उपत्यकाओं, घाटियों के निवासी बताया है। यूनानी लेखकों के अनुसार इस प्रदेश का नाम कुलिन्द्राइन था। यह प्रदेश लगभग वर्तमान उपरोक्त जिलों का पर्यायवाची है। वराहमिहिर संहिता में कुलिन्दों को गणों में श्रेष्ठ बताया गया है : *कुलिन्दाः गण पुंगवा।* कुलिन्दों के प्राप्त सिक्कों में इनकी राज्य सत्ता को अमोघभूति लिखा है। यह किसी शासक विशेष का नाम नहीं था। अमोघभूति का साधारण अर्थ क्षीण न होनेवाली अक्षुण्ण शक्ति है। यह राज्य-चिह्न गणतंत्र की परम्परा के अनुरूप था और इस बात को प्रतिपादित करता है कि गण की सत्ता अमर संवैधानिक परम्परा के अनुरूप थी, पर इसमें वैयक्तिक सत्ता को महत्त्व न देकर, सामूहिक सत्ता और सामूहिक कल्याण को महत्त्व दिया गया है।

कुलिन्द जाति की प्रजातांत्रिक परम्पराओं की जड़ें सुदूर अतीत के अंधकार में छिपी हैं। यदि कनैत जाति उसी परम्परा से सम्बद्ध है तो निःसन्देह वे उस गौरवशाली संस्कृति के उत्तराधिकारी हैं।

विपाशा : अंक-63, जुलाई-अगस्त, 1995से

किन्नौर के त्योहार

ठाकुर सेन नेगी

कुछ लोग त्योहार तथा मेला दोनों शब्दों को पर्यायवाची अर्थ में प्रयोग करते हैं। बारीकी में इन दो शब्दों में मूलतः भिन्नता है, भले ही कुछ बातें समान क्यों न हों। भीड़-भड़क्का, चहल-पहल समान लक्षण होते हैं और अब दुकानदारी जिस प्रकार फैलती जा रही है, त्योहारों में भी दुकानदार पहुँचने लगे हैं, मेलों में तो दुकानदारी होती ही है। कुछ मेले होते ही तिज़ारती हैं जैसे—रामपुर का विख्यात लवी मेला।

गाना-बजाना, नाचना-नचाना, खेल-कूद त्योहारों का भाग है तो मेलों का भी अंश होता है, बल्कि मेले में खेल-कूद कहीं अधिक होते हैं। त्योहार की भिन्नता तथा विशेषता यह होती है कि उसके पीछे कोई न कोई धार्मिक अथवा ऐतिहासिक प्रेरणा चलती है।

किन्नौर में प्रायः त्योहार ही मनाए जाते हैं। अब ज़िला के मुख्यालय रिकांग-पियो में गत वर्षों से एक मेला 'किन्नौर लवी' के नाम से मनाया जाने लगा है। इसे कुछ वर्ष पूर्व 'फुल्याच' के नाम से प्रारम्भ किया गया था। परन्तु इसका प्रधान स्वरूप व्यापारिक ही था। जबकि 'फुल्याच' जिसका मूल किन्नौरी नाम 'उख्यङ्' है, एक त्योहार हुआ करता है। इस अप्रासंगिकता के कारण नाम 'फुल्याच' से बदलकर लवी रखा गया है। किन्नौर का कोई त्योहार ऐसा नहीं होगा जिसमें देवी-देवताओं की कोई न कोई भूमिका न हो और वह क्या किन्नौरा जिसे फूल प्यारा न हो; गाने-बजाने, नाचने-नचाने का शौक न हो। चाहे अब इसमें कहीं-कहीं कुछ परिवर्तन आ रहा है, लेकिन वह त्योहार फीका होगा जिसमें खाने-पीने के अतिरिक्त पुरुष वर्ग में पीना-पिलाना साथ न हो।

वर्ष में 12 महीने होते हैं। किन्नौर में 12 त्योहार तो ठेठ और बने-बनाए

होते हैं। कुछ इने-गिने ऐसे छोटे कामों को भी गिना जाए तो संख्या और भी बढ़ जाती है। त्योहारों की ये सूचियाँ यहाँ किल्बा, सांगला तथा लाव ग्रामों पर आधारित हैं। मोटे तौर पर ये त्योहार क्रमशः राजग्रामङ्, टुकपा तथा शुवा परगणों में मनाए जाते हैं। बारीकी में जाएँ और पूरी फेहरिस्त बनानी हो तो कुछ और त्योहार शामिल करने पड़ेंगे और कुछ-कुछ पहलुओं में तो लगभग प्रत्येक गाँव की कुछ न कुछ अपनी विशेषता होती है। मगर ये त्योहार तो पारम्परिक और अनिवार्य हैं--

किल्बा

क्र.स.	महीना	त्योहार
1.	चैत	चैतरोल
2.	वैसाख	बीश एवं बोल्ल
3.	जेठ	आयराटङ् या आयराचङ्
4.	आषाढ़ (हाड़)	डखरेन
5.	सावन	शोनेचङ्
6.	भादों	ज़गरङ् तथा कहीं-कहीं ज़ागरो
7.	असोज	दङ उख्यङ् या कहीं-कहीं उख्यङ्
8.	कातक	कहीं-कहीं उख्यङ्
9.	मंघर	दिवाल
10.	पौष	साज़ो, कहीं-कहीं खेपा तथा जागङ्
11.	माघ	माहङ् सोङा तथा कहीं-कहीं शूजबमिग
12.	फागुण	फागुल

लाबरंग

1.	जनवरी प्रथम सप्ताह में	लोसर
2.	फरवरी महीने में	खोक्चा
3.	फरवरी महीने में	खेपा
4.	सितम्बर प्रथम सप्ताह में	तेमछो/मेन्तोको
5.	अक्तूबर तृतीय सप्ताह में	शेरकन
6.	मार्च महीने में	शिमकुक
7.	मार्च महीने में	दिरख्यम
8.	जून महीने में	दुङ्ग्युर जल-मा

सांगला

क्र.सं.	महीना / प्रविष्टे	त्योहार	कुल दिन
1.	माघ 1	साज़ो	1 दिन
	माघ 15	फारुल	1 दिन
2.	फाल्गुन 5	फगुल	9 दिन
3.	चैत्र 10,11	चेत्रोल	1 दिन
4.	बैसाख 1	बिशु	2 दिन
5.	ज्येष्ठ	जेरटङ सोङा	1 दिन
6.	आषाढ़ 31	डखरेन दखरेन	2 दिन
7.	श्रावण 1	डखरेन दखरेन	2 दिन
8.	भाद्रपद 20	उख्यङ्	2 दिन
9.	आश्विन 12, 13	दङ्-उख्यङ्	2 दिन
10.	कार्तिक 9 (दीवाली)	रिङ् दिवाल	1 दिन
11.	अग्रहायण 28, 29	दिवाल	4 दिन
12.	पौष 29, 30	खेपा	1 दिन
13.	होली 3 दिन, उसके एक दिन बाद फाग मेला।		

किन्नौर में कुल मिलाकर देखा जाए तो उख्यङ् सबसे बड़ा त्योहार होता है। वैसे तो स्थानीय महत्त्व के दृष्टिकोण से लोसर, डखरेन, बीश, फगुल आदि भी विशेष महत्त्व रखते हैं।

उख्यङ् को बाहरवाले लोग फुल्याच कहा करते हैं। 'ऊ' शब्द किन्नौरी है, जिसका अर्थ फूल होता है, जिससे फुल्याच नाम भी ठीक बैठ जाता है। दोनों नामों से यह ज़ाहिर हो ही गया कि यह त्योहार फूलोंवाला होता है। परन्तु पुष्प-विहीन त्योहार तो किन्नौर में कोई होता ही नहीं। बर्फ़वाले महीनों में कुछ और न मिले तो लकड़ी पर रन्दा चला कर जो काष्ठ पुष्प-सा बनाया जाता है वही सही।

उख्यङ् शब्द के सन्धिविच्छेद ऊ+ख्यङ् में ख्यङ् भाग का बिगाड़ इस सीमा तक है कि 'मं' के स्थान पर 'ङ' अधिक चल पड़ा। 'ख्यङ्' शब्द का अर्थ है 'अभाव'। अच्छे जंगली फूलों का प्रायः इस त्योहार के बाद अभाव ही हो जाता है। कारण कि फिर मौसम बदल जाता है। पतझड़ का आरम्भ होता है। अर्थात् यह त्योहार तत्पश्चात् फूलों के लुप्त होने का द्योतक है। इस मेले में फूल बड़ी ऊँचाइयों से चुन कर लाए जाते हैं। फूल लाने के लिए जानेवाले स्नान करके, कुछ खाए-पिये बिना, बड़ी श्रद्धा तथा देवी-देवताओं की मन ही

मन स्तुति की भावना से फूल चुनते हैं। गीत गाए जाते हैं, जिनमें देवी-देवताओं से क्षमा याचना पश्चात् कहा जाता है कि त्योहार की खातिर उनकी अनुमति से फूल तोड़ने का साहस किया जा रहा है, वे गाँव के ऊपर दया-दृष्टि रखें .... आदि-आदि। फूल लेकर जब वे लोग गीत गाते हुए वापिस पहुँचते हैं, वहाँ ग्राम-देवता पूरे गाँववालों सहित गाजे-बाजे के साथ उनका स्वागत करता है। वह दृश्य देखनेवाला होता है। यहाँ एक गाँव के मेले का संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है।

बैसाख महीने का 'बीश' त्योहार किन्नौरी ढंग से बैसाखी कहा जा सकता है। इसी महीने में कहीं तीन तो कहीं पाँच वर्षों में एक बार 'बोल' का त्योहार भी मनाया जाता है।

किन्नौरी शब्द 'बोल' हिन्दी बल का अपभ्रंश हो सकता है। 'बोल' त्योहार में नाचनेवालों में कुछ लोग सूअर, कौआ, मुर्गा, छिपकली और गिरगिट को लेकर नाचते रहते हैं और अन्त में इन सभी जानवरों की बलि दी जाती है। लड़ाइयों के ज़माने की समाप्ति तथा अमन और आराम का दौर आने पर भी लोग मरने-मारने की मानसिक शक्ति न खो बैठें और वीरता के लिए मनोबल बना रहे; शायद इसी विचार से 'बल' का त्योहार मनाया जाता है। चाहे बेचारे छोटे-छोटे जानवरों को ही पकड़ रखा है, खून करने की रुचि, उनकी कुर्बानी द्वारा प्रकट होती है। त्योहार दिन भर चलता रहता है और ग्राम-देवता बाहर खेतों में घुमाये-फिराये जाते हैं। किन्नौर के ग्राम-देवी-देवताओं की पालकियाँ बड़ी शानदार होती हैं। दो आदमी उठाते हैं। कीमती कपड़ों तथा सोने-चाँदी के मुखड़ों से सुसज्जित पालकी के सिर पर सुरा गाय के बालों की काली या रंगाई गई जटा सुसज्जित होती है।

किन्नौर के त्योहारों सम्बंधी रस्मों-रिवाज़ों, गानों और नाच में बहुत कुछ ऐसी मूल्यवान बातें, लोकगाथाएँ हैं, जो ग्राम-देवी-देवताओं से जुड़े ऐतिहासिक, सामाजिक एवं धार्मिक आयाम लिए हुए हैं। इनके आधारभूत मूल्य वर्तमान तथा भविष्य में भी कद्र योग्य पाए जाएँगे। परन्तु एक तो नूतन दौर की नई-नई बातें, दूसरे जीवन की निरन्तर बढ़ती चिन्ताएँ और व्यस्त्ताएँ फिर नई पीढ़ियों के रुझान आदि से यह खतरा बढ़ता ही जा रहा है कि यदि समझदार और समाज की चिन्ता करनेवाले लोग आज से ही कुछ एहतियात न बरतें तो एक-आध और पुश्तों में ही इतनी अफरा-तफरी फैल सकती है कि सबकुछ चौपट हो जाएगा और किन्नौर की कोई विशेषता, कोई पृथक् पहचान न बच पाएगी। अपने आर्थिक सुधार में किन्नौर के लोग इतना बढ़ गए हैं और उठ

गए हैं कि सामाजिक भविष्य की बात तो दूर, आज की सामाजिक समस्याओं पर ध्यान देने के लिए भी उनके पास फ़ुरसत नहीं है।

पुराने ज़माने में जब फ़ुरसत ज़्यादा हुआ करती थी और मनोरंजन के दूसरे साधन नहीं हुआ करते थे तो कुछ ऐसे गाँव थे, जहाँ त्योहार गाँव से खासी दूरी पर, और अच्छी चढ़ाई तय करने के बाद, एक निश्चित स्थान पर मनाए जाते थे। अब उन्हीं ग्रामों में वही त्योहार निकटवर्ती नए स्थानों पर मनाए जा रहे हैं। सामूहिक नृत्यों तथा गानों में से कुछ को तो इतनी महत्ता दी जाती थी कि यदि कुछ कमी रह जाए तो ग्राम-देवता अप्रसन्न हो जाते थे। जहाँ मंच आधारित नृत्य में एक विशेष आकर्षण होता है, जिसके लिए नृत्य मण्डली ने पूर्व अभ्यास द्वारा कुशलता प्राप्त कर रखी होती है, वहाँ दूसरी ओर खुले मैदान में जो सामूहिक स्वछन्द नृत्य होता है, उसमें सारा गाँव नाचता है– क्या पुरुष, क्या स्त्री, क्या बूढ़ा, क्या बच्चा; नाचनेवालों के साथ बजानेवाले भी नाचते हैं। गाँव का पूरा वाद्य-वृन्द यौवन पर बजाया जाता है और दो आदमियों के कन्धों पर ग्राम-देवता को भी नचाया जाता है। वह वातावरण ही और होता है। ऐसे सहज स्वाभाविक नृत्य अब कम होते जा रहे हैं।

होना यह चाहिए कि किन्नौरी समाज कुछ मुख्य त्योहारों को अभी से छाँट कर निश्चय कर ले कि वह मनाए जाते रहेंगे, पूरे परम्परागत शान-बान और रस्म रिवाज़ से—जब तक किन्नौर नाम का यह भू-भाग इस सृष्टि पर कायम रहे। जिन छोटे-छोटे त्योहारों को लोगों अथवा स्थानीय देवताओं के रहम पर छोड़ा जा सकता है, उनमें से एक तो यही 'बोल' का त्योहार है। देवी-देवताओं की भूमिका, गाना-बजाना, नाचना-नचाना, पुष्पों का पहनना-पहनाना और खाना-खिलाना, पीना-पिलाना आदि तो न्यूनाधिक प्रत्येक त्योहार के अंश होते ही हैं। साथ ही प्रत्येक त्योहार का अपना गीत होता है और कोई न कोई अन्य विशेषता भी होती है।

सोमसी : मार्च, 1994 अंक से

किन्नौरी समाज में महिला का स्थान

विद्यासागर नेगी

पश्चिमोत्तर हिमालय में स्थित जनजातीय क्षेत्र किन्नौर की महिलाओं का स्थान अपने समाज में पुरुषों से ऊँचा है। ऐसा होना स्वाभाविक भी है, क्योंकि इस समाज में महिला, परिवार की धुरी होती है और पूरा परिवार उसके इर्द-गिर्द घूमता है। खेत-खलिहान से लेकर चूल्हे-चौके तक सारा कार्य महिलाओं पर ही निर्भर होता है। यह भी सच्चाई है कि इस समाज में पुत्रोत्पत्ति पर बोजङ् (भोज)[1], शूकुद[2], टशि-लु[3], चामो हनेन[4] (चामो निकालना) आदि जो आयोजन होते हैं, वे पुत्री के पैदा होने पर नहीं होते हैं। इसके अलावा लड़की का सूतक भी लड़के की अपेक्षा अधिक दिनों तक माना जाता है। साथ ही, लड़के की उत्पत्ति पर माँ-बाप को बधाई के रूप में उनके नाते-रिश्तेदारों तथा गाँववालों द्वारा जो फूल आदि पहनाए जाते हैं, वे लड़की के पैदा होने पर नहीं पहनाए जाते हैं।

कुछ क्षेत्रों में लड़के को 'ज़ङ्कोटि' यानी सुवर्ण किल्टा और लड़की को खकोटि/छक्सा कोटि यानी विष्टा किल्टा, 'छेच़-कोटिङ्च़'[5] (लड़की किल्टा) 'पोल-कोटिङ्च़'[6] (पूरी किल्टा) कहना तथा घर में झाड़ू लगाने, कपड़े-बर्तन धोने का काम लड़कों से न कराकर लड़कियों से ही कराना आदि रिवाज़ दर्शाते हैं कि उस समाज में लड़की के जन्म को लड़के के जन्म जैसा महत्त्व नहीं दिया जाता। किन्तु विवाह के उपरान्त परिवार में स्त्री का महत्त्व बहुत बढ़ जाता है। विवाह से पूर्व भी माता-पिता की ओर से उसे एक संदूक, चङ्च़ यानी एक खेत, सामान रखने के लिए सम्भव हो तो एक कोठार (उर्च़), यदि न हो तो एक बड़ा सन्दूक, सम्भव हो तो कुछ भेड़-बकरियाँ देने की परम्परा है। ये खेत तथा भेड़-बकरियाँ उसे अपनी 'खेचङ्' यानी अलग निजी कमाई करने के लिये दिये जाते हैं। इसीलिए इन्हें क्रमशः खेचङ्-रिम (अलग कमाई

का खेत) तथा 'खेचङ्-ज़ेद' (अलग कमाई की भेड़-बकरियाँ) भी कहते हैं। 'खेचङ्-रिम' तथा 'खेचङ्-ज़ेद' से जो भी आय होती है, उसे वह अपनी इच्छानुसार व्यय कर सकती है। यदि वह उस खेत तथा भेड़-बकरियों से की गई अपनी व्यक्तिगत कमाई को खर्च नहीं करती है तो वह उसे अपने विवाह के अवसर पर या विवाह के बाद 'मइटे खेचङ्' (मायके की अलग कमाई) के नाम से अपने ससुराल ले जाती है। लोकगीतों में भी कहा जाता है कि 'सोनिश बोषङ् मइटे', 'सोनिश जोड़ी दगलो' यानी बारह वर्ष मायके में (रहकर) बारह जोड़े दगलो (चाँदी के कंगन) बनाए।

विवाह के बाद भी माता-पिता द्वारा दिये गए उक्त खेचङ्-रिम पर जुताई-बुवाई का अधिकार उसी का ही रहता है और उसकी मृत्यु पर ही वह खेत मायकेवालों को लौटाया जाता है।

जनजातीय क्षेत्रों में महिलाओं से जुड़ा एक दुःखद पहलू यह है कि पिता की ज़मीन-जायदाद पर लड़की का अधिकार नहीं होता है और न ही ससुराल में पति की ज़मीन-जायदाद पर उसका अधिकार होता है। इस कारण कई परिवारों में महिलाओं को बेहद कठिनाइयों से भी गुज़रना पड़ता है।

विवाह के अवसर पर लड़कीवाले, लड़केवालों से, अपनी लड़की को 'बिथोपोणो' के नाम पर, रहने के लिए एक कमरा तथा जीवन-यापन के लिए एक खेत मुँह-ज़ुबानी अथवा लिखित रूप में दिलवाते हैं, ताकि ससुराल में किसी कारणवश अनबन होने पर या पति द्वारा दूसरा विवाह करने से उत्पन्न परेशानी की स्थिति में, उसे अपना घर छोड़कर जीवन-यापन के लिए इधर-उधर न भटकना पड़े और वह ससुराल में ही पारिवारिक सम्बंध-विच्छेद किए बिना, चूल्हा अलग करके अपना जीवन गुज़ार सके।

एक बात यहाँ ध्यान देने योग्य है कि जो महिला अपने ससुराल में तंग आकर अपने 'बिथोपोणो' पर रहना चाहती है तो उसे अपने 'बोनयुङ्स' यानी मायके-पक्ष के पुरुष सगे-सम्बंधियों, जिसमें विशेषकर उसके पिता, भाई, मामा, 'मजो-मी' (विचौलिया) तथा कुछ खास लोग शामिल होते हैं, को इस सम्बंध में बात करने के लिए बुलाना पड़ता है ताकि ये लोग ससुरालवालों से बातचीत करके, विवाह के अवसर पर 'बिथोपोणो' के नाम पर जो कमरा, खेत उसे देने के लिए तय हुआ था, वह उसे दिला सकें।

ससुरालवालों से 'बिथोपोणो' प्राप्त करने का अधिकार, एक महिला का तब तक ही रहता है, जब तक वह अपने ससुराल में रहती है। तलाक तथा अन्य के साथ विवाह की स्थिति में, उसका यह अधिकार स्वतः ही समाप्त

हो जाता है।

मायके में रहनेवाली लड़की को, गृहस्थ जीवन अथवा संन्यासी जीवन अपनाने की भी स्वतन्त्रता होती है। यदि वह संन्यासी जीवन अपनाती है तो बौद्ध परम्परा के अनुसार उसे अपने केश कटवाकर तथा चीवर धारण कर स्थानीय परम्परानुसार बौद्ध धर्म का अध्ययन तथा शील का पालन करना अनिवार्य होता है। यहाँ भी अपनी शीलपालन क्षमता के आधार पर, वह स्वतन्त्र है कि वह मात्र उपासिका (गेञेन-मा) की दीक्षा लेकर जीवनभर उससे सम्बद्ध शील का पालन करे या प्रव्रजित होकर श्रामणेरी (गेछुल-मा) संवर का पालन करे। यदि वह उपासिका मात्र की दीक्षा लेती है तो उसे चीवर धारण करने की ज़रूरत नहीं होती है। वह संन्यासी जीवन का प्रतीक मात्र लाल रंग का कुर्ता, पायजामा तथा टोपी पहनकर धर्मकार्य के साथ-साथ जीवन-यापन के लिए खेती-बाड़ी का काम कर सकती है, किन्तु जो प्रव्रजित होती है, उसे चीवर धारण करना अनिवार्य होता है और जीवन यापन के लिए खेती-बाड़ी करना वर्जित होता है। उसे गृहस्थों के यहाँ धर्मकार्यों के सम्पादन से प्राप्त दान-दक्षिणा या परिवार-जनों पर निर्भर रहना पड़ता है।

अतीत में महिलाएँ श्रामणेरी के बाद एक निश्चित समय आने पर उपसम्पदा ग्रहण कर, भिक्षुणी भी बनती थीं। किन्तु प्रजापति गौतमी से भिक्षुणी की जो परम्परा भगवान् बुद्ध ने शुरू की थी, वह बीच में टूट जाने के कारण, अब इधर के हिमालय क्षेत्रों तथा हिमालय के उस पार तिब्बत की महिलाओं को भिक्षुणी बनने का सौभाग्य प्राप्त नहीं होता है। संन्यासी जीवन चुननेवाली महिलाओं को, हिमालयी बौद्ध जगत् में सम्मान से 'जोमो' कहा जाता है। जहाँ तक इनके लिए प्रयुक्त भोटी सम्बोधन शब्द जोमो की बात है, इसका प्रयोग यहाँ इसके सामान्य अर्थ ठाकुराइन में नहीं, प्रत्युत् 'आर्या' के अर्थ में हुआ है।

इसके अलावा यदि लड़की गृहस्थ या संन्यासी किसी भी जीवन को अपनाना न चाहे तो भी वह अपने माता-पिता के घर में, यदि भाई-भाभी कुटिल न हों तो, ससम्मान रह सकती है। यदि वह उनके साथ न रहकर अलग से रहना चाहे तो भी वह 'खेचङ्-पा' यानी अलग कमाई करनेवाले के रूप में रह सकती है। ऐसी स्थिति में उसे माता-पिता की ओर से रहने के लिए एक कमरा तथा जीवन यापन के लिए एक खेत दिया जाता है।

किन्नौरी समाज में अपनी लड़की के लिए वर ढूँढने को बहुत बुरा माना जाता है। इसलिए लड़की को घर-परिवार से सम्बंधित सभी प्रकार के कार्यों

में अत्यन्त कुशल होना बहुत ज़रूरी होता है। उसकी कार्यकुशलता एवं व्यवहार कुशलता ही उसके पराए घर में जाकर गृहस्थ जीवन शुरू करने की पहली कसौटी होती है। उसके इन गुणों के कारण ही दूर-दूर से लोग उसे ढूँढते हुए, उसके लिए रिश्ता लेकर आते हैं। इसलिए उसे समाज को अपने कार्य एवं व्यवहार कुशलता का परिचय देना ज़रूरी होता है। माँ-बाप भी अपनी लड़की को घर-परिवार से सम्बंधित हर कार्य में दक्ष बनाने के लिए यथासम्भव प्रयास करते हैं, ताकि उनकी लड़की पराए घर में जाकर न केवल प्रशंसा की पात्र बन सके, बल्कि मायके का नाम भी रोशन कर सके। इसीलिए विवाह के अवसर पर लड़कीवाले अपने ग्राम-देवता से निम्न पंक्तियों में प्रार्थना करते हैं–

ज़ी नरेणस डुम्बोर, जेहेच़ी लनरइँ।
जेहेच़ी लनरइँ, किन ज़इ़चु।
किन ज़इ़चु, बोसन ली शेरइँ।
बोसन ली शेरइँ, रोसन ली शेरइँ।
खको गीथड़् रङ् कनारङ् ऊ रङ्।
पन्ठङो वदो, खुरङो ग्रदो।

अनुवाद

(हे) नरेणस देव जी, भला करें अपनी जाई का।
अपनी जाई को, बसने भी दें रसने भी दें।
मुख में गीत के साथ, कान में कर्ण फूल के साथ।
घर में हँसते लोगों, पशुशाला में रम्भाते पशुओं के साथ।

बाहरी समाज में लड़की के विवाह के अवसर पर दहेज के नाम पर लड़केवालों को रुपये-पैसे, गाड़ी-बंगला आदि देने की जो प्रथा है, किन्नौरी समाज में उसकी कोई अहमियत नहीं है। यहाँ विवाह के अवसर पर लड़केवालों के किसी अप्रिय व्यवहार को लेकर यदि लड़कीवाले बिगड़ जाते हैं तो द्वार पर पहुँची बारात को खाली हाथ भी लौट जाना पड़ता है। यह ज़रूर है कि ऐसी स्थिति आने पर लड़के के मामे, जो विवाह के अवसर पर 'मजो-मी' या 'बर-मी' यानी बिचौलियों की भूमिका अदा करते हैं, उनके द्वारा स्थानीय परम्परानुसार, बिगड़ने से पहले ही स्थिति बातचीत के द्वारा सम्भाल ली जाती है।

विवाह के अवसर पर ससुरालवालों की ओर से लड़की को दिए जानेवाले सभी आवश्यक गहनों को 'मजो-मी' के माध्यम से लड़की को पहनाने से

पहले, लड़की के माता-पिता, भाई-बहिनों, अन्य खास रिश्तेदारों तथा लड़की के हमउम्र सखा-सखियों (कोणिचो/बयुगो) को दिखाना ज़रूरी होता है। ससुराल की ओर से लड़की को दिए जानेवाले आवश्यक गहने यदि पूरे न हों तो लड़की को पहनाने से पहले वे पूरे करवाने पड़ते हैं। इतना ही नहीं, उन आधे-अधूरे गहनों को पहनने से लड़की भी इन्कार कर देती है। इसलिए ससुरालवालों की ओर से दिए जानेवाले आवश्यक सभी गहने पहले ही पूरे करके ले जाने पड़ते हैं।

उदानङ् के नाम पर रुपये-पैसे, गहने आदि जो भी लड़की के नाते-रिश्तेदार उसकी शादी पर देते हैं, वह सम्पत्ति लड़की के नाम की ही होती है और बाद में भी उस पर पूरा अधिकार उसी का रहता है। वह लड़की की जमा-पूँजी होती है।

किन्नौरी समाज में एक लड़की द्वारा अपनी शादी पर, अपने मायकेवालों तथा अन्य सगे-सम्बंधियों से 'उदानङ्' के नाम पर रुपये-पैसे, गहने, कपड़े तथा बर्तन आदि प्राप्त करने को उसका 'थोबथङ्' यानी विशेषाधिकार माना जाता है। ये चीज़ें एक लड़की को तभी प्राप्त हो सकती हैं, जब उसकी 'जनेकङ्' (बड़ी शादी, जिसमें नाते-रिश्तेदारों के अलावा पूरे गाँव तथा ग्राम, देवता को भी आमन्त्रित किया जाता है) या 'बोनबोस' (छोटी शादी, जिसमें मात्र अपने रिश्ते-नातेदारों को ही बुलाया जाता है) में से विवाह का कोई एक प्रकार हो। इसलिए प्रयास किया जाता है कि आर्थिक स्थिति ठीक न होने के कारण, यदि लड़की की 'बड़ी शादी' करना सम्भव न हो तो 'छोटी शादी' अवश्य हो, ताकि अपने सगे-सम्बंधियों को बुलाकर 'उदानङ्' के नाम पर लड़की को अपने मायकेवालों तथा अन्य सगे-सम्बंधियों से जो कुछ मिलना होता है, वह उसे दिलाया जा सके। इसे किन्नौरी में 'उदानङ् सरसर रन्नु' (उदानङ् इकट्ठा करके देना) कहा जाता है।

किसी कारणवश पति-पत्नी में तलाक, जिसे किन्नौरी में 'शिङ्-टक्शिम' यानी लकड़ी तोड़ना कहते हैं, की नौबत आ जाए तो लड़केवालों को लड़की के नाम पर रुपये-पैसे, भांड़ा-बर्तन, गहना, जो भी उसकी शादी पर उसके नाते-रिश्तेवालों ने दिए होते हैं, पूरे हिसाब-किताब के साथ लड़की को लौटाना अनिवार्य होता है। और ससुराल से दिए गए सारे गहने तथा कपड़े लड़की को हिसाब करके ससुरालवालों को लौटाने होते हैं।

किन्नौरी समाज में विधवा विवाह, तलाकशुदा महिला का पुनर्विवाह तथा विवाहिता का पुनर्विवाह बुरा नहीं माना जाता। यदि विवाहिता का पुनर्विवाह

होता है तो पहले विवाह पर वर पक्ष के द्वारा जो व्यय किया जाता है, दूसरे पति को वह सब हिसाब करके अदा करना होता है। ऐसी लायी गई बहू को 'हार पग-पग-तेम' (हार कर लायी गई बहू) कहते हैं।

यदि विवाह बहुपति प्रथा के अनुसार हुआ हो तो विवाह के बाद सास-ससुर अपनी सामाजिक परम्परानुसार बहू और बेटों में से किसी एक बेटे को घर-बार की चाबी सौंपते हैं। इसे 'तेम-छड़ु तालङ्-रन्नु' यानी बहू-बेटे को चाबी देना कहा जाता है। कुछ क्षेत्रों में इसे 'गोएन-रन्नु' यानी 'गोएन' देना भी कहते हैं। तालङ् लेते ही घर-परिवार में बहू का महत्त्व बढ़ जाता है और उसे उस परिवार में 'गोएने' यानी गृहस्वामिनी का स्थान हासिल हो जाता है। लोग उसे उस परिवार की 'तालङ्-से' और उसके साथ गृहस्थी सम्भालनेवाले उसके जीवन साथी को 'तालङ्-सा' (चाबीवाला) कहते हैं। इसका भावार्थ घर-परिवार की ज़िम्मेदारी सम्भालनेवाली गृहस्वामिनी एवं गृहस्वामी होना होता है। किन्नौर के कुछ क्षेत्रों में 'तालङ्-सा' को जहाँ 'गोरथेस/गोरतेस/घोरिया' और 'तालङ्-से' को 'गोरथोन/गोएन' कहते हैं, वहीं किन्नौर के जमस्कद भाषा-भाषी क्षेत्रों में इन दोनों को क्रमशः 'जिन्दग' (दायक) तथा 'जिन्दग-मा' (दायिका) कहते हैं।

किन्नौर के प्रत्येक घर के रसोईवाले कक्ष, जिसे 'पन्ठङ्' कहा जाता है, में चूल्हे की बायीं तरफ के शीर्ष में फुग्स (भीतरी भाग) नामक जगह होती है, वहीं 'गोएन पोसरङ्' के नाम से गोएने (गृहस्वामिनी) के बैठने की जगह परम्परा से निर्धारित होती है। गोएन पोसरङ् के सामने चूल्हे में 'अपनतिङ-पन्च़' नाम से एक चपटा पत्थर रखने की परम्परा है। इस पर रखकर रोटी भी सेंकी जाती है। वास्तव में यह चूल्हे के अधिष्ठाता का प्रतीक रूप आस्थान होता है। इसे रखने के पीछे मान्यता है कि यह गोएने को अजरता-अमरता, रक्षा तथा बरकत प्रदान करता है। एक महिला 'गोएन पोसरङ्' में तभी तक साधिकार बैठ सकती है, जब तक वह गोएने के पद पर होती है। जैसे ही उसकी बहू गोएने की पदवी हासिल कर लेती है, उसे वह जगह अपनी बहू के लिए छोड़ देनी पड़ती है।

बहू-बेटे को 'तालङ्' शादी के तुरन्त बाद नहीं दी जाती है। कुछ वर्ष सास, बहू को अपनी देखरेख में खेत-खलिहान, चूल्हे-चौके से लेकर घर-परिवार तथा गाँव-समाज की सारी ज़िम्मेदारियों से भली-भाँति परिचित होने के लिए वक्त देती है। जब बहू उक्त सारी ज़िम्मेदारियों से अच्छी तरह परिचित होकर इनके निर्वहन योग्य हो जाती है तो बहू-बेटे को 'तालङ्' देने

की तैयारी की जाती है। इसके लिए खेत-खलिहान से फसल जब घर में आई होती है, ऐसे धन-धान्यपूर्ण समय में बौद्ध ज्योतिषी से विचार-विमर्श कर कोई शुभ दिन चुना जाता है। उस रोज़ देव-देवियों की स्थानीय परम्परानुसार पूजा-अर्चना की जाती है। नाते-रिश्तेदारों, विशेषकर बहू के पिता या भाई, उनकी अनुपस्थिति में उसके 'मजो-मी' को आमन्त्रित किया जाता है। खुशनुमा माहौल में सबके सामने अनाज, कपड़े, बर्तन, पशु तथा घर-बार से सम्बंधित अन्य सभी चीज़ों का हिसाब किया जाता है। एक काँसे की थाली को जौ से भरकर, उसके ऊपर घर-परिवार की ज़िम्मेदारियों के प्रतीक कोठार (भण्डारगृह) की ताली-कुंजियों की गुच्छी को रखकर, उस थाली को सास अपने दोनों हाथों से उठाकर ढेर सारी मंगल कामनाओं के साथ अपनी बहू को सौंपती है। बस, इसी विधि-विधान के सम्पन्न होने के साथ ही बुज़ुर्ग घर-परिवार तथा गाँव-समाज की सारी ज़िम्मेदारियों से मुक्त हो जाते हैं। इसके बाद वे चाहें तो हल्का-फुल्का खेती-वाड़ी का काम तथा धर्मकार्य करते हुए अपने बहू-बेटे के साथ रह सकते हैं। यदि उनके साथ रहना न चाहें तो बहू-बेटे को 'तालङ्' सौंपते समय अपने रहने के लिए एक कमरा तथा जीवन-यापन के लिए बुढ़खरी (बुढ़ौती भाग) के नाम से रखे अपने खेत का काम करते हुए, 'किम-पा' (घर-परिवार की ज़िम्मेदारी सम्भालनेवाला मूल परिवार) से अलग 'खेचङ्-पा' यानी अलग कमाई करनेवाले के रूप में, अलग चूल्हा जलाकर भी रह सकते हैं।

यहाँ पर यह ध्यातव्य है कि बहू-बेटे का यह कर्तव्य बनता है कि वे अपने परिवार के इन बुज़ुर्ग सदस्यों की यथासंभव देखभाल करें। बहू-बेटे तथा पोते यदि कृतघ्न निकलें तो पूरा जीवन अपनी संतानों की भलाई में खपा देनेवाले को अपने बुढ़ापे के इस पड़ाव पर पहुँचकर जीवन-यापन के लिए अत्यन्त कठिनाइयों से भी गुज़रना पड़ता है।

तालङ् लेने के बाद बहू-बेटे की यह जिम्मेदारी बनती है कि उनके माता-पिता ने अपने कार्यकाल में घर-परिवार को जिस शिखर पर पहुँचाकर उन्हें सौंपा है, उसे नीचे न गिरने देकर, आगे बढ़ाएँ और उन्नति की नई रेखा खींचें। साथ ही, परिवार को भी अपने मधुर सम्बंधों के द्वारा न केवल बिखरने-टूटने से बचाएँ, बल्कि उसे पहले से अधिक सशक्त बनाएँ। संयुक्त परिवार में तो एक तालङ्-से के नाते बहू की ज़िम्मेदारी बहुत बढ़ जाती है। उसे अपने परिवार को लेकर अत्यन्त संवेदनशील होना पड़ता है। अपनी चाहत की परवाह न करके, अपने परिवार के प्रत्येक सदस्य की पसन्द-

नापसन्द, इच्छा-अनिच्छा का विशेष ध्यान रखना उसकी ज़िम्मेदारी होती है।

लाहुल-स्पीति आदि क्षेत्रों की तरह किन्नौर भी अधिक ऊँचाईवाला क्षेत्र है, यहाँ वर्ष के अधिकांश महीनों में कड़ाके की सर्दी पड़ती है। इसलिए यहाँ स्त्री-पुरुष, सभी सिर से पैर तक ऊनी कपड़े पहनते हैं। विशेषकर सर्दियों में बर्फ़ के कारण महिलाओं को खेती-बाड़ी आदि बाहरी कार्यों से फुर्सत मिलती है तो उन्हें अपने परिवार के कपड़ों के लिए ऊन कातनी होती है। कताई पूरी होने पर उसे जुलाहों से बुनवाकर पट्टी तैयार कर कपड़े बनाने होते हैं। परिवार के किस सदस्य के पास ओढ़ने-पहनने के लिए क्या नहीं है, किसको क्या देना है, यह देखने की जिम्मेदारी 'तालङ्-से' की होती है। इतना ही नहीं, परिवार को सुबह से शाम तक क्या खिलाना है, घर पर आए अतिथि की खातिर कैसे करनी है, गाँव तथा गाँव से बाहर नाते-रिश्तेदारी कैसे निभानी है, उनके साथ शादी-विवाह, मरना-जीना आदि अवसरों पर पारिवारिक रीति-रिवाज़ों को कैसे निभाना है, गाँव की सामाजिक मान्यताओं एवं परम्पराओं तथा सार्वजनिक कार्यों में परिवार की भागीदारी कैसे करनी है, घर-परिवार से सम्बद्ध लोगों से लेन-देन कैसे करना है, यह सब ज़िम्मेदारी 'तालङ्-से' की होती है।

यदि किसी परिवार की 'तालङ्-से' उपरोक्त सभी ज़िम्मेदारियों को बखूबी निभाती हुई घर-परिवार को बिखरने न देकर, मज़बूती के साथ उन्नति के शिखर पर पहुँचाती है, तो वह समाज में सर्वत्र—फलां परिवार की बहू 'वाली शोल्लार', यानी 'बहुत काबिल' होने की प्रशंसा पाती है। यदि वह घर-परिवार को पहले के स्तर से आगे नहीं बढ़ा पाती है और उसे नीचे भी नहीं गिरने देती तो लोग उसे 'टोप्पनसी तोश' यानी 'ठीक ही है', कहते हैं। यदि वह परिवार को नीचे गिरा देती है, तो लोग 'चिसकोन्टङ् तेम' यानी 'अत्यन्त आलसी' बहू कहकर उसकी निन्दा करते हैं।

बेटी किसी के घर में जाकर 'चिसकोन्टङ् तेम' न कहलाए, इसलिए विवाह गीत की निम्न पंक्तियों में माँ अपनी बेटी को परिवार तथा समाज में कैसे व्यवहार करना चाहिए, यह सब बताती है—

चिमेद कलज़ङ् डोलमा, प्रयोचो लोगिन।
प्रयोचो लोगिन, हेदु गोरबोनु देन।
हेदु बोरबोनु देन, मज़ामिक ज़ाम ग्यातो।
मज़ामिक ज़ाम ग्यातो, मगाजिमिक गाजिम ग्यातो।
चिमेद कलज़ङ् डोलमा, हेदु किमरिमु देन।

हेदु किमरिमुदेन, रोणु चिनगारो चुगमो ग्यातो।
चिमेद कलज़ङ् डोलमा, कुमोनु ज़इ थहचिरइँ।
कुमोनु, ज़इचु युमरातिङ् निद्रङ्।
युमरातिङ् निद्रङ् ओम रातिङ् सरशो।
चिमेद कलज़ङ् डोलमा, सुमोनु ज़इ हचिरइँ।
सुमोनु ज़इ हचिरइँ, ओम रातिङ् यगरइँ।
ओम रातिङ् यगरइँ, युमरातिङ् सरशिरइँ।
युमरातिङ् सरशिरइँ, मइटेयो नामङ् त्वारइँ।
मइटेयो नामङ् त्वन्ना, मइटेयो इज़ित नीतो।
चिमेद कलज़ङ् डोलमा, प्रयोचो लोगिन।
प्रयोचो लोगिन, हेदु मटेयङु देन।
हेदु मटेयङुदेन, हेदु रोसोम-रोवास।
हेदु रोसोम-रोवास, बङ् टेम-टेम युनरइँ।
बङ् टेम-टेम युनरइँ गर क्रल-क्रल द्वारइँ।
तीछग चे थोगरइँ, ज़ङछम चे थिनरइँ।

अनुवाद

बेटी कलज़ङ् डोलमा ' पराई बहू, दूसरे के घर-बार पर।
दूसरे के घर-बार में
न खाया जानेवाला भी खाना पड़ता।
न पहना जानेवाला भी पहनना पड़ता।
बेटी कलज़ङ् डोलमा, दूसरे की घर-ज़मीं पर।
दूसरे की घर-ज़मीं पर, लोह नख-दाँत गाड़ना पड़ता।
बेटी कलज़ङ् डोलमा, कुमाता की बेटी न बनना।
कुमाता की बेटी को
रात्रि के पिछले पहर में निद्रा।
रात्रि के अगले पहर में जागेगी।
बेटी कलज़ङ् डोलमा, सुमाता की बेटी बनना।
रात्रि के अगले पहर में सोना, पिछले पहर में जागना।
बेटी कलज़ङ डोलेमा, मायके का नाम निकालना,
मायके का नाम निकालोगी तो, मायके की इज्ज़त होगी।
बेटी कलज़ङ् डोलमा, पराई बहू, पर ज़मीं पर।
पर ज़मीं पर, होता पर रीति-रिवाज

पैर दबा कर (तहज़ीब से) चलना।
दाँत कस कर (सोच-समझकर) बतियाना।
पूर्व के बुरे सम्बंध रूपी जल सेतुओं को उतार देना।
मधुर सम्बंध रूपी सुवर्ण सेतुओं को स्थापित करना।

किन्नौरी समाज में यदि किसी लड़की का रिश्ता उसके माता-पिता उसकी पसन्द के खिलाफ तय कर लेते हैं तो समाज द्वारा लड़कियों को प्रदत्त अधिकार के तहत लड़की उस रिश्ते को तोड़ने का अधिकार भी रखती है। इस अधिकार को 'कोरङ् पोलठामो' यानी कोरङ् लौटाना कहा जाता है। इस अधिकार के तहत लड़की को जब पता चलता है कि उसका विवाह अमुक लड़के के साथ तय हुआ है, जो उसे पसन्द नहीं है, तो वह एक मदिरा की बोतल, बरणी के नाम पर लड़की के लिए लाया गया एक गहना तथा कुछ रुपये, जो उसका रिश्ता तय करते समय 'मजो-मी' द्वारा उसके माता-पिता को दिए होते हैं, उन्हें अपनी 'कोणिच़/बयुगो' यानी हमउम्र सखा-सखियों के माध्यम से उक्त 'मजो-मी' को लौटा देती है। इसी के साथ ही माता-पिता द्वारा तय किया उसका रिश्ता स्वतः टूट जाता है। इस अधिकार का इस्तेमाल सभी लड़कियाँ नहीं कर पाती हैं। अत्यन्त विवशता की स्थिति में ही कोई करती है; क्योंकि यह निश्चित नहीं होता कि इसके बाद उसे इससे अच्छा रिश्ता मिलेगा ही। इसलिए इस अधिकार का इस्तेमाल करने से पूर्व लड़की को कई बार सोचना पड़ता है।

इसके बावजूद कहा जा सकता है कि इस समाज में लड़कियों को अपनी मर्ज़ी के मुताबिक रिश्ता स्वीकार करने की स्वतन्त्रता प्राप्त है। आज की तारीख और शब्दावली में कहा जाए तो यह अधिकार किन्नौरी समाज द्वारा अपनी लड़कियों को दिया गया 'मानव अधिकार' है। किन्नौरी समाज द्वारा एक लड़की को दिया गया मान-सम्मान तथा सुरक्षा का वर्णन यहाँ के विवाह गीत में भी पहले मायकेवालों की ओर से और बाद में गाँववालों की ओर से बहुत ही सुन्दर ढंग से हुआ है--

गुङग्यालेयो मइटेयास लोतोश, निङ् ज़इयु युमेद अमा।
निङ् ज़इयु युमेद अमा, निङ् ज़इ पङ्।
निङ् ज़इ पङ् गोराम ली नेरइँ।
गोराम ली नेरइँ, मज़ामिक ज़स थारनरइँ।
मगाजिमिक, गाजिम, था रन रइँ।

गुङग्यालेयो मइटेयास लोतोश, निङ् ज़इ पङ् असे था तारच।

निङ् ज़इ पङ् असे तन्ना, खतङो मे परतोच।
खतङो मे परतोच, मुसलङ् पोग-पोग केतोच।
मुसलङ् पोग-पोग केतोच, सङ्गा फोल फोल केतोच।

गुङग्यालेयो युमेद अमा, गोरेयाम ली नेरइँ।
गोरेयाम ली नेरइँ, किशो गुङग्यालेयो।
किशो गुङग्यालेयो, असे था तद रइँ।
गुङग्यालेयो असे तद-ना, गुङग्यालेयो बोनयुङ्स कोच़ङ्।
गुङग्यालेयो बोनयुङ्स कोच़ङ्, सरशिसी बतोश।
सरशिसी बतोश, ख्युङ् प्याओ लानिङ् देस।
ख्युङ् प्याओ लानिङ् देस, सरमा सरशिम मश्कोश।
सरमा सरशिम मश्कोश, रोमसु जीलङ् देस।
रोमसु जीलङ् देस, फन्ना फन्नशिम मश्कोश।
सरशिसी बतोश, सङ्गा फोल-फोल केतोश।
सङ्गा फोल-फोल केतोश, खतङो मे परतोश।
खतङो मे परतोश, मुसलङ् पोक-पोक केतोश।

अनुवाद

दुल्हन के मायकेवालों ने कहा–
हमारी जाई की सासु माँ
हमारी जाई को प्यार करना भी जाने।
न खाया जानेवाला, खाना न दें।
न पहना जानेवाला, पहनने न दें।
दुल्हन के मायकेवालों ने कहा–
हमारी जाई को तंग न करना।
हमारी जाई को तंग करेंगे तो
(तुम्हारे) धरातल कक्ष में आग लगा देंगे।
(तुम्हारे) मूसल जला डालेंगे,
(तुम्हारे घर की) सीढ़ी फाड़ डालेंगे।
दुल्हन की सासू माँ, प्यार करना भी जाने।
हमारी दुल्हन को तंग न करे।
दुल्हन को तंग करेंगे तो,
मायके के पुरुष खराब हैं।

उठकर ही आएँगे उड़ते
ख्युंग नामक पक्षियों की पांत समान।
तोड़ना चाहें तो टूटेगी नहीं
रोमस घास की जड़ों की तरह
उखाड़ना चाहें तो उखड़ेंगी नहीं।
उठकर ही आएँगे, सीढ़ी फाड़ डालेंगे
तुम्हारे धरातल कक्ष में आग लगा देंगे।
तुम्हारे मूसल जला डालेंगे।

किन्नौरी समाज में किसी के विवाह के अवसर पर जो 'मजो-मी' बनता है, विवाह के बाद उसका परिवार लड़की का दूसरा 'मायका' माना जाता है। मायके की तरह ही लड़की को अपने 'मजो-मी' के हर सुख-दुःख में भी शामिल होना पड़ता है। ससुराल में यदि उसे किसी प्रकार की परेशानी होती है तो उसे अपने मायकेवालों को बताने से पहले अपने 'मजो-मी' को बताना ज़रूरी होता है और 'मजो-मी' उसकी परेशानी को उसके ससुरालवालों से बात करके, अपने स्तर पर सुलझाने का यथा सम्भव प्रयास करता है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो ससुराल में एक लड़की के सुख-दुःख, उसकी सुरक्षा तथा मान-सम्मान का ख़याल रखने की ज़िम्मेदारी, उसके 'मजो-मी' की होती है। इसीलिए विवाह गीत में मायकेवाले 'मजो-मी' से धर्म का वास्ता देकर अपनी' लड़की की देखभाल करने के लिए कहते हैं–

गुङग्यालेयो मइटेयास लोतोश, बारोआ लो बरमी।
बारोआ लो बरमी, निङ धोरोम किन गुदो।
निङ धारोम किन गुदो, निङ ज़इयु दम ख्यारइँ।

अनुवाद

दुल्हन के मायकेवालों ने कहा–
(हे) बिचौलिए, हमारा धर्म आपके हाथ में,
हमारी जाई को ठीक से देखना।

आम लोगों की तरह ही किन्नौरी समाज में भी यह माना जाता है कि एक लड़की का घर सही मायने में उसका अपना ससुराल ही होता है और लड़की अपने ससुराल में ही सुन्दर लगती है। इसलिए कहा भी जाता है कि- *'ज़इ प्रये शरे, डुम्बोर डेलिङो शरे'* यानी *बेटी ससुराल में सुन्दर लगती है और देवता देवालय में सुन्दर लगते हैं।* इसीलिए उसे मायके के सारे रिश्ते यानी माता-पिता, भाई-बहिन, ससुराल में स्थापित करने के लिए विवाह गीत के

माध्यम से कहा जाता है–

मइटेयु थोगिस गोरछङ्, अमाउ ज़ागाओ युमेत।
अमाउ ज़ागाओ युमेत, बपुउ ज़ागाओ रु।
बपुउ ज़ागाओ रु, दावचेओ ज़ागाओ बोरे।
दावचेओ ज़ागाओ बोरे, युङ्ज़ेओ ज़ागाओ प्रइमी।।

अनुवाद

मायके के हिसाब से ससुराल मिला,
माँ की जगह आपकी सास
पिता की जगह ससुर होंगे,
बड़ी बहन की जगह बड़ी ननद
भाई की बजाय अब पति होंगे।

इन सबके बावजूद यदि कोई लड़की अपने ससुराल में तंग किए जाने के कारण, अत्यन्त दुःखी होकर मायके में आकर रहती है तो किन्नौरी समाज में इसे बुरा नहीं माना जाता। विवाह गीत की निम्न पंक्तियाँ किन्नौरी महिलाओं को इसी बात की छूट देती हैं–

निङोनु गोङग्यालीच्, असे-दुसे तचिमा।।
असे-दुसे तचिमा, फरना यपयप जारइँ।।
फरना यपयप जारइँ, किन ज़ङ्चो मइटे।।
किन ज़ङ्चो मइटे, किन युङ्चेचु धूरे।।
किन युङ्ज़ेचु धूरे, किन बपुचु बाये।।

अनुवाद

हमारी बिटिया, ससुराल में तंग करें
फुर्र से उड़कर चली आना।
अपने अच्छे मायके, अपने भाई की दायीं,
अपने पिता की बायीं ओर आकर बैठना।

किन्नौरी समाज में धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक मान्यताओं एवं परम्पराओं के संरक्षण तथा संवर्द्धन में भी यहाँ की महिलाओं की भूमिका अहम होती है। उन्हीं के कारण आज तथाकथित आधुनिकता की चकाचौंध में भी, यहाँ की आदिम संस्कृति की विशिष्टताएँ पूर्ववत् कायम हैं। यहाँ की महिलाओं को जहाँ हम कृषि, बागवानी तथा पशु-पालन आदि विविध कार्यों में व्यस्त पाते हैं, वहीं अपने ग्राम-देवता तथा बौद्ध विहार से सम्बद्ध कार्यों में भी उन्हें पुरुषों से आगे पाते हैं। यहाँ के पुरुष उनके साथ

पंक्ति में खड़े तो ज़रूर दिखते हैं, किन्तु सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक निर्णय एवं उनके कार्यान्वयन में, यहाँ की महिलाओं की प्रमुख भूमिका होती है। किन्नौर के विभिन्न गाँवों में प्रचलित कई सामाजिक-सांस्कृतिक मान्यताओं एवं परम्पराओं के प्रचार के पीछे भी यहाँ की महिलाओं की भूमिका होती है। एक क्षेत्र की महिलाएँ विवाह करके जब दूसरे क्षेत्रों में जाती हैं, तो वे अपने मायकेवाले क्षेत्रों की ऐसी सामाजिक-सांस्कृतिक मान्यताओं तथा परम्पराओं को, जो उनके ससुरालवाले क्षेत्रों में नहीं होती हैं, पहले स्वयं अपने स्तर पर मानना-मनाना आरम्भ करती हैं और बाद में पूरे गाँव को उनमें शामिल करवाती हैं। किन्नौर के विभिन्न क्षेत्रों की अनेक सांस्कृतिक, सामाजिक एवं धार्मिक मान्यताएँ तथा परम्पराएँ सदियों से इसी प्रकार एक गाँव से दूसरे गाँव में प्रचलित होती रही हैं।

किन्नौर के ग्राम-देवता भी अपने क्षेत्र के पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं की बातों को अधिक मान्यता देते हैं। ग्राम-देवता अपने गाँव के लिए शरणदाता, वैद्य , प्रशासक, न्यायाधीश, परिवार-प्रमुख आदि विविध भूमिकाओं में होते हैं। वे जब कभी अपने लोगों से किसी बात को लेकर रूठ जाते हैं तो उन्हें वहाँ की महिलाएँ ही मनाती हैं। इसके लिए चाहे उन्हें अपने ग्राम-देवता से झगड़ना पड़े, चाहे उन्हें 'पोएरङ्' (ग्राम देवता के रथ के पैर) पकड़कर उनके सामने रोना ही पड़े। इतना ही नहीं, जब कभी गाँव की महिलाओं के लोक कल्याण से सम्बद्ध सामूहिक निवेदन को ग्राम-देवता सुनने से इन्कार कर देते हैं तो महिलाएँ ग्राम-देवता को नदी में डूबकर सामूहिक आत्महत्या करने की धमकी देती हुई, नदी की ओर जाने लगती हैं। ऐसी स्थिति उत्पन्न होने पर ग्राम-देवता तुरन्त उनका रास्ता रोककर, उन्हें ऐसा कठोर कदम न उठाने के लिए, न केवल समझाते हैं, प्रत्युत् उनके निवेदन को भी स्वीकार करते हैं।

जब विशेष अवसरों पर ग्राम-देवता का नृत्य करने का मन करता है, तो वे ग्राम-महिलाओं की ओर अपना शीश झुकाकर उन्हें 'ठोकरी कायङ्' (ठाकुर नृत्य) करने के लिए कहते हैं, ताकि देवता स्वयं भी उनके साथ उछल-उछल कर नृत्य करते हुए, अपनी खुशी का इज़हार कर सकें। कुछ क्षेत्रों में तो ग्राम-देवता, अपने क्षेत्र की लड़कियों का विवाह किसके साथ करना उचित है, इसका निर्णय भी लेते हैं। दूसरे गाँव में ब्याही जानेवाली हर लड़की ग्राम-देवता की अपनी 'ज़इ' (जाई) होती है और उसकी आगे की सन्तानें उनकी 'ज़ोन्तियाँ'। इसलिए अपनी 'ज़इ-ज़ोन्तियों' के सुख-दुःख का ध्यान रखना भी ग्राम-देवता अपना कर्तव्य समझते हैं। ससुराल में एक सीमा के बाद तंग किए जाने पर

लड़की अपने मायके में ग्राम-देवता के सामने जाकर, अपने को उनकी जाई होने का वास्ता देकर, अश्रुपूर्ण नेत्रों से उनसे फरियाद करती है और ग्राम-देवता अपनी जाई की अश्रुपूर्ण फरियाद से पसीज़ कर उसे तंग करनेवाले उसके ससुरालियों को अपने देवालय में आने के लिए विवश कर 'शू-दोषङ्' (देवदोष) के माध्यम से अपनी जाई पर किए ज़ुल्मों का एहसास करवाते हैं।

ग्राम-देवता अपनी 'ज़इ-ज़ोन्तियों' तथा अपने गाँव की महिलाओं के स्वागत आदि के कारण प्रसन्न होने पर कभी-कभार अपनी ओर से न केवल उन्हें कुछ रुपये-पैसे बतौर बख़्शीश देते हैं, बल्कि उन्हें भोज भी देते हैं। ग्राम देवता 'अठारो-भोजङ्/डोङ्-नो भोजङ्' (देवतपस्या पूर्णता भोज) आदि विशेष भोजोत्सवों के आयोजन पर अपने पूरे क्षेत्र के लोगों को तो भोज देते ही हैं, इसके अलावा अपने क्षेत्र से बाहर ब्याही गई अपनी 'ज़इ-ज़ोन्तियों' को भी विशेष रूप से आमन्त्रित करते हैं। ऐसे अवसरों पर बाहर से आनेवाली उनकी 'ज़इ-ज़ोन्तियाँ' अपने ग्राम-देवता को कई प्रकार की भेंट लाती हैं और देवता भी उनकी वापसी के समय, उन्हें कुछ उपहार भेंट करते हैं। कई बार तो ग्राम-देवता अपने क्षेत्र से बाहर ब्याही गई अपनी 'ज़इ-ज़ोन्तियों' की खुशी में शरीक होने के लिए स्वयं भी उनके ससुराल पहुँच जाते हैं।

ऐसे अवसरों में जब ग्राम-देवता वापिस अपने क्षेत्र को लौटते हैं तो उनकी ज़इ-ज़ोन्तियाँ उन्हें कुछ दूरी तक विदा करने आती हैं। विदाई के समय ग्राम-देवता 'ज़इ-ज़ोन्तियों' को 'सबोनिङ्' यानी विदाई-भेंट के रूप में कुछ रुपये-पैसे भी देते हैं।

किन्नौरी महिलाएँ अपनी सुरीली आवाज़ के लिए भी प्रसिद्ध हैं। इसी कारण साहित्य में इन्हें 'किन्नरकंठी' कहा गया है। यहाँ की महिलाओं ने अपने क्षेत्र की सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक तथा ऐतिहासिक घटनाओं, मान्यताओं, विश्वासों एवं परम्पराओं को अपने लोकगीतों तथा लोकगाथाओं के माध्यम से संजोकर, उन्हें पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे बढ़ाने का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण काम भी किया है। महिलाओं ने यदि यह काम नहीं किया होता तो किन्नौर के अतीत की विभिन्न घटनाएँ आज अज्ञानता के गर्भ में समाई होतीं और उन पर कभी प्रकाश नहीं पड़ता। विभिन्न कालखंडों में किन्नौरी महिलाओं ने लोकगीतों के माध्यम से अपने समय में प्रचलित ग्राम-देवों, ऐतिहासिक बौद्ध विहारों, देवालयों, बौद्ध गुरुओं, राष्ट्रीय नेताओं आदि से सम्बंधित कथा-कहानियों को लुप्त होने से बचाया है। किन्नौर के ग्राम-देवी-देवताओं से सम्बंधित शू-गीथङ् (देवगीत), उख्यङ् गीथङ् (उख्यङ् गीत), डखरेण गीथङ्

(दक्षिणायन गीत), उत्तरेणी गीथङ् (उत्तरेणी गीत), फगुल गीथङ् (फागुली गीत), चैत्रोल गीथङ् (नवसंवत्सर से सम्बंधित चैत्र गीत), महानुवादक रत्नभद्र का गीत, ईशुरस गीथङ् (ईश्वर गीत) आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। यह ज़रूर है कि इन गीतों की रचनाकार महिलाओं ने गीतों में अपना कोई नाम-परिचय नहीं दिया है। केवल एक गीत जो 'सोमा हेलङ्' के नाम से प्रसिद्ध है, उसमें रचनाकार का नाम इस प्रकार है–

हएसी लनग्यो, नो सोमाहेलङ्।
हएसी मलोन, सुमोनुचिमेदोश।
सुमोनु चिमेदो, ज़ोगे रङ् ज़ोबना।

अनुवाद

किसने बनाया होगा यह सोमा हेलङ्।
किसने न कहें, सुमाता की बेटियों ने।
सुमाता की बेटियाँ, जोगी तथा जबना।

विवाह से पूर्व मायके में रहनेवाली लड़की की लोकगीतों में मइटे-छेस-छङ् बङ्-गी गोलसङ् देस (मायके की लड़की पूर्ण चन्द्रमा सदृश) रङ्देन ऊ (पर्वत शिखर का फूल), खगोइ गोलबासी (ऊँचे क्षेत्र का गुलाब), बगिचाउ ऊडालङ् (बगिया की फूल डाली) किमज़रदेन दरछोद (घर के कोने पर स्थित ध्वज), बङ्-कोदुदेन दिवङ् (अनाज भरे द्रोण पर दीया) आदि उपमाएँ देकर प्रशंसा की गई है। उदाहरण के तौर पर जैसे–

मइटेयो छेच़-छङ् ली हो होले बङ्लेयो गोलसङ् देस।
मइटेयो छेच़-छङ्।

अनुवाद

मायके में लड़की पूनम के चन्दा समान।
मायके में लड़की।......

दुदानु हेनदेन बगीचाओ निश डालङ् फूला।
निश डालङ् फूला, नो बारहमासीचु फूला।।
नो बारहमासीचु फूला, हतु बलुदेन सिज़ातो।।

अनुवाद

कामरु दुदान वंश के निचले बागीचे में दो डाली फूल।
ये दो डाली फूल सदा बहार फूल।
ये सदाबहार फूल किनके शीश पर सजेंगे।

मोमास ता लोतोश, नो ठ बातङ् रिङतोइँ।
नो ठ बातङ् रिङ्तोइँ, अङ् ओटङ् जइ।
अङ् ओटङ् ज़इ, किमज़रदेन दरछोद।
किमज़रदेन दरछोद, बङकोदुदेन दिवङ्।

अनुवाद

मामा ने कहा, ये क्या बात कह रहे हैं।
ये क्या बात कर रहे हैं, मेरी युगल जाई।
मेरी युगल जाई, घर के कोने की ध्वज।
घर के कोने की ध्वज, अनाज भरे द्रोण पर दीया।

किन्नौरी लोकगीतों में यहाँ की महिलाओं की सुन्दरता का भी बखूबी वर्णन हुआ है। अन्य क्षेत्रों की तरह सुन्दरता को लेकर उनका नख-शिख वर्णन तो नहीं हुआ, किन्तु उनका पहरावा तथा सामान्य सुन्दरता का यथा– रंग, कमर, बाल, दाँत आदि का वर्णन अवश्य हुआ है। किन्नौर के ब्रुआ गाँव की शीलापति पर रचित लोकगीत में उसकी सुन्दरता का वर्णन है–

दो गोलयो दङ् शोङ्, दो शोङ्-शोङ् बीमा।
दो शोङ्-शोङ् बीमा, धारेयुदेन ब्रुआ।।
धारेयुदेन ब्रुआ, द्रम कोटियु नोरको।।
द्रम कोटियु नोरको शुम कुलडङ् कायङ्।।
शुम कुलडङु मजो, ज़ाए बनठेन हद तोश।।
ज़ाए बनठेन लोशिमा, बनठेन शीला पोती।।

अनुवाद

वहाँ से नीचे-नीचे जाएँ तो धार पर स्थित ब्रुआ।
युगल देवालय के परे प्रांगण में तीन फेर माला नृत्य।
तीन फेर माला नृत्य के बीच सबसे सुन्दर कौन है ?
सबसे सुन्दर कहें तो सुन्दरी शीलापति।

कुसुमपति पर रचित एक अन्य लोकगीत में किन्नौरी नारी के सौन्दर्य का वर्णन और भी आकर्षक ढंग से हुआ है। इसमें लोककवि ने कुसुमपति नामक किन्नौरी नारी की सुन्दरता को उसके ससुर के माध्यम से व्यक्त किया है–

अङ् तेम कुसुम पोती वरक्योची शेसमिक।
वरक्योची शेसमिक, गुटल बङ् डालङ् रङ्।
गुटल बङ् डालङ् रङ् दुङ् लप-लप गर रङ्।

दुङ् लप-लप गर रङ्, पिलप-लप शा रङ्।

अनुवाद

मेरी बहू कुसुमपति, दूर से ही पहचानी जाती।
पतली कमर और शंखवर्ण दाँत के साथ।
सुनहरे बदन के साथ।........

नारी सौन्दर्य से सम्बद्ध एक और लोकगीत में ठोलङ् गाँव के भाट परिवार की लड़की सुन्दरी छेरिङ्मोल की शारीरिक सुन्दरता तथा उसके मर्दाना पहरावे का वर्णन कुछ इस प्रकार हुआ है—

बनठेना छेरिङमोल बोलो, बनठेना छेरिङमोल।
गुटालि बङा डालङ् बोलो, गुटालिबङा डालि-लङ।
रङ् खोलो देनस्थङ् ओजुरु बोलो, रङ् खोलो देनस्थङ् ओजुरु।
ठोक शङु देसा गारो बोलो, ठोक शङु देसा गालेरो।
मोरछङ्चु देसकी पयरोन बोलो, मोरछङचु देसकी पयरोन।
लारङा शोङा ख्यामा बोलो, लारङा शोङा ख्यालिमा।
खत चालामु ले छुआ बोलो, खत चालामु छुलूआ।
केप्पाओ शोङा ख्याना बोलो केप्पाओ शोङा ख्यालिमा।
बुरा ला शुराओ गाछङ् बोलो, बुरा ला शुराओ गालेछङ्।
सूसीयारो सूतोन बोलो, सूसीलियारो सूलूतोन।
बाङो शोङ् ख्यामा बोलो बाङो शोङा ख्यालिमा।
सुकेलेताङु जूता बोलो सुकेलेताङु जूलूता।

अनुवाद

सुन्दरी छेरिङ्मोल, सुन्दरी छेरिङ्मोल।
पतली कमरवाली, पतली कमर वाली।
कंधे तक घुँघराले बाल, सफेद गिट्टियों जैसे दाँत।
ऊपर बदन पर देखें तो मेमने की ऊन का चोगा,
कमर में देखें तो, रेशमी गाची, नीचे सूती पाज़ामा
पैरों में देखें तो सुकेत के जूते।

जिस महिला की सन्तान समाज में अपनी विद्वता के कारण बहुत ऊँचाई हासिल कर लेती है उस महिला की प्रशंसा तो होती ही है, वहीं लोक-कवि भी उसकी प्रशंसा में लोकगीतों की रचना करते हैं। उदाहरण के लिए किन्नौर के खदुरा गाँव के दम्यस परिवार की बहू बहादुरदासी, जिनके एक पुत्र ने भिक्षु बनकर तिब्बत के डेपुङ् बौद्ध महाविहार से बौद्ध धर्म-दर्शन का अध्ययन

कर समाज में बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त किया था, उनकी प्रशंसा में रचित लोकगीत की कुछ पंक्तियाँ हैं–

युठुङ् खदुरा, दम्यसु गोरिङ्ङ्देन।
दम्यसु गोरिङ्ङ्देन, नम-शा हम्च दूग्योश।।
नम-शा ता लोन्ना, थोटुक्पा छेचाचो।
थोटुक्पा छेचाचो, लम्बर खोतरियु ज़ाइ।।
लम्बर खोतरियु ज़ाइयु नामङ् ठद दूग्योश।
नामङ् ता लोन्ना, बन्ठेन बादुरदासी।
बन्ठेन बादुरदासी, हलेस्की नामङ् बादुरी।।
हलेस्की नामङ् बादुरी, कुखिङ् ली देस्की बादुरी।
कुखिङ् ली देस्की बादुरी, सुनेयो कुखिङ्।
सुनेयो कुखिङ् कुखिङो युनेग ज़रज़र।
थुचशोङ् युनेग संसार, युचरिङ् युनेग ज़रज़र।
युचरिङ् युनेग ज़रज़र, आनेयो ङालेयो पनजी।
अनेयो ङालेयो पनज़ी, इ पनज़ी खोरासी।
इ पनज़ी खोरासी, आनेयो कोन्सङ् पनज़ी।
आनेयो कोन्सङ् पनज़ीयु नामङ् ठ दूग्योश।।
नामङ् ता लोन्ना, पनज़ी पल्दन सेङ्गे।

अनुवाद

निचले खदुरा गाँव में, दम्यस परिवार के घर बहू कहाँ से होगी ?
बहू कहें तो ऊपरी टुक्पा क्षेत्र की लड़की।
ऊपरी टुक्पा क्षेत्र की लड़की का नाम क्या होगा?
नाम कहें तो सुन्दरी बहादुरदासी।
जैसा नाम बहादुरी, कोख भी वैसी ही बहादुरी।
स्वर्णिम कोख, कोख में सूर्योदय हुआ।
ऊपर से नीचे तक सूर्योदय हुआ।
नीचे से ऊपर सूर्योदय हुआ, अपनी पाँच सन्तान।
अपनी पाँच सन्तानों में, सबसे बढ़कर एक सन्तान।
एक सन्तान सबसे बढ़कर, अपनी कनिष्ठ सन्तान।
अपनी कनिष्ठ सन्तान का नाम क्या होगा ?
नाम कहें तो, सन्तान पल्दन सेङ्गे।

किन्नौरी महिलाएँ अत्यन्त भावुक होती हैं। दुःखी होने पर वे किस हद तक जा सकती हैं, इसका परिचय भी लोकगीत की निम्न पंक्तियों में बखूबी मिलता है–

मनरिङ्स-सु दुःखी बोज़न्ना, कोइ शुम-छु मुरुल।
कोइ शुम-छु मुरुल, कोइ गंगा पानी।।

अनुवाद

महिला का दुःख बढ़ जाए,
तो तीन वाक्य गीत गाती।
या नदी में डूबकर आत्महत्या कर लेती है।

ठंगी गाँव की अत्यन्त भावुक छोकोरी नाम की एक लड़की की, दुःखी होकर आत्महत्या करने के लिए नदी पर जाते हुए, यह स्थिति थी कि नदी में कूदने से पहले उसने नदी से प्रार्थना की, जिसका वर्णन लोककवि ने निम्न पंक्तियों में अत्यन्त मार्मिक ढंग से किया है–

शुपक्स शुप-शपी तुरेरङ्, बन्टेन छोकोरी।
बन्टेन छोकोरी, मिगो टुल टुली मिस्तीरङ्।
मिगो टुल टुली मिस्तीरङ्, युग्सी पोलिङ् डबो।
युग्सी पोलिङ्डबो, युटुङ् गंगाउदेन।
युटुङ् गंगाउदेन, निशगुद हाथ जोड़ेयाओ।
निशगुद हाथ जोड़ेयाओ, या गंगा पानी।
या गंगा पानी, हुन डुब्यन्निक हचे।
हुन डुब्यन्निक हचे, युग्सी-युग्सी थफिचिरइँ।
युग्सी-युग्सी थफिचिरइँ थुग्सी-थुग्सी फिचिरइँ।
थुग्सी-थुग्सी फिचिरइँ, नङ-सी जङ-सी थफिचिरइँ।
नङ-सी जङ-सी थफिचिरइँ, मजङ्-मजङ् सी फिचिरइँ।।

अनुवाद

साँझ ढलते-ढलते सुन्दरी छोकरी।
आँखों में छल-छल आँसुओं के साथ।
दोहड़ू का निचला हिस्सा
घसीटती जा रही, नीचे नदी पर।
दो हाथ जोड़ प्रार्थना कर रही
हे नदी! अब डूब जाने का वक्त हुआ।
नीचे-नीचे से न ले जाना, ऊपर ऊपर से ले जाना।

इस पार से ले जाना, न उस पार से।
बीचों-बीच से ले जाना, हे नदी!
बीचों-बीच से ले जाना।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि किन्नौर की महिलाएँ अत्यन्त कर्मठ होती हैं। वे कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी मर्दों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर आगे बढ़ती हैं। यदि किसी का जीवन साथी बीच रास्ते में ज़िन्दगी से हारकर उसका साथ छोड़ दे तो भी वह अकेली ही अपने पति के कार्य को सम्भालती है। सुन्दरी कृष्णमणि के लोकगीत में लोककवि ने किन्नौरी महिला के इसी पक्ष को उजागर किया है। इस लोकगीत की नायिका कृष्णमणि अपने पति के लाख मना करने पर भी, उसके साथ अपने भारवाहक पशुओं को लेकर तिब्बत जाती है। तिब्बत में पति का अकस्मात् देहांत हो जाने पर वह बड़ी हिम्मत के साथ न केवल अपने पति का दाह संस्कार करती है, प्रत्युत् अपने पति के व्यापार को भी आगे बढ़ाती है–

बनठेना कृष्णा मोलोणी, मोरछङ्चु गोमदेस गोमरङ्।
मोरछङ्चु गोमदेस गोमरङ्।
मोरछङ्चु गोमदेस गोमरङ्, ओम लाएयुली बेरङ्।
ओम लाएयुली बेरङ्।
ओम लाएयुली बेलेरङ्, प्रइमीचु लाशन फुक्याओ।
प्रइमीचु लाशन फुक्याओ।
युम लाएयुली बेलेरङ्, व्यापाराची ली लानो।
व्यापाराची ली लानो।
व्यापाराची ली लानो, गुदोचा पोयोलोरे रङ्।
गुदोचा पोयोलोरे रङ्।
गुदोचा पोयोलोरे रङ् ब्यङ् मालाचु ली लेना।
ब्यङ् मालाचु ली लेना।।
ब्यङ् मालाचु ली लेना, ब्यङ् खालाचुली हिमबू।
ब्यङ् खालाचुली हिमबू।।
बनठेना कृष्णा मोलोणी, टुल–टुली क्रालाबो।
टुल-टुली क्रालाबो।।

अनुवाद

सुन्दरी कृष्णमणि, मर्दानी हिम्मतवाली।
मर्दानी हिम्मत वाली, पूर्वाह्न वेला में।

पति की लाश जला रही।
अपराह्न वेला में, व्यापार कर रही।
हाथ में तराजु के साथ।
बकरी शावक का पशम तोल रही।
भेड़ शावक का ऊन तोल रही।
सुन्दरी कृष्णमणि, छल-छल आँसू रो रही।

सुन्दरी छेरिङमल के गीत में किन्नौर के उस अतीत को उजागर किया गया है, जब यहाँ के लोगों के जीने का आधार भेड़-पालन हुआ करता था और इस कार्य में भेड़पालकों के लड़के ही नहीं, लड़कियाँ भी शामिल होती थीं। वे सर्दी-गर्मी, वर्षा-आँधी के बीच खुले आकाश के नीचे अपनी भेड़-बकरियों के साथ सभी प्रकार के कष्ट खुशी-खुशी सहती हैं–

बनठेन छेरिङ्मोल, खोगे बोटेयारङ्।
खोगे बोटेयारङ्, गुदो बनशूरी रङ्।
गुदो बनशूरी रङ्, बनशूरी बाज़ेयाओ।
बनठेन छेरिङ्मोल, बेनडल शालाङु ओमपी।
बेनडल शालाङु ओमपी, शालाङु होआ कूदो।
शालाङु होआ कूदो, आनेनु गुरा शालङ्।
बनठेन छेरिङ्मोल, ठ छेच़ छङ् तोचिग्योश।
ठ छेच़ छङ् तोचिग्योश, मोरछङ् चु देसकी गोमछी रङ्।
मोरछङ् चु देसकी गोमछी रङ्, गुन लोशिमा गुनसा।
गुन लोशिमा गुनसा, गोइनिङ् छरबाचु युठुङ्।
शोल लोशिमा पबो, शोलदुयङ् चु कुमो।

अनुवाद

सुन्दरी छेरिङ्मल, कमर में दराट के साथ।
हाथ में बाँसुरी लिए बजा रही।
सुन्दरी छेरिङ्मल, भेड़-बकरियों के झुँड के आगे।
भेड़-बकरियों के झुँड के आगे,
भेड़-बकरियों का आह्वान कर रही।
सुन्दरी छेरिङ्मल की नौ सौ भेड़-बकरियाँ,
क्या लड़की होगी, मर्दानी हिम्मतवाली।
सर्दी कहें तो शीतकालीन चरागाह में, अम्बर वर्षा नीचे।
गर्मी कहें तो ग्रीष्म चरागाह में, बरसाती धुन्ध के बीच।

लोकगीतों में महिलाओं की पसन्द-नापसन्द को लेकर भी वर्णन हुआ है। वे धन-दौलत, गाड़ी-बंगला तथा नौकरी-पेशा की अपेक्षा अपने होनेवाले पति की व्यवहार कुशलता को अहमियत देती है। जैसे–

बाहो मइच़ गोरछङ्, बंगुला नीमाली कुटिया।
बंगुला नीमाली कुटिया, बाबू नीमाली बोङ्गाली।
बाहो मइच़ प्रइमी रङ्, ज़ामडी हाला शेन्निक।
जामङ् ता बसक्यङ्, इ देयारी हाला तोशिमिक।
इ देयार ता बसक्यङ् इ कलथानडी हाला तोशिमिक।
इ कलथानङ् बसक्यङ्, मुखडी हाला ख्याशिमिक।
बाहो तोच़ गोरछङ्, कुटिया नीमाली बंगुला।
कुटिया नीमाली बंगुला, बोङ्गाली नीमाली बाबू।

अनुवाद

नापसन्द ससुराल में बंगला हो तो भी कुटिया समान।
बाबू भी भिखारी समान।
नापसन्द पति के साथ जीवन कैसे गुज़ारना।
जीवन तो छोड़ो एक दिन भी कैसे रहना।
एक दिन तो छोड़ो एक सुबह भी कैसे रहना।
एक सुबह तो छोड़ो मुँह ही कैसे देखना।
मनपसन्द ससुराल, कुटिया भी बंगला।
कुटिया भी बंगला, भिखारी भी बाबू।

किन्नौर के महिला-पुरुष अत्यन्त नाच-गान प्रिय होते हैं। नाच-गान के लिए जब कभी उन्हें अवसर मिलता है तो वे लोग गाँव के मध्य में स्थित सन्तङ् यानी देवालय प्रांगण में एकत्र होकर मध्य में अलाव जलाकर, उसके गिर्द सारी-सारी रात मालानृत्य करते हैं। इसीलिए कहा भी जाता है–

शीमिक सुनच़न्ना शोन्निक चामिक ली मागृग्शो।
खाच़ माचु बेरङ् माचाशिमा, तोगली तेराडी चाशिमिक।

अनुवाद

मृत्यु के बारे में सोचें तो नाच-गान से भी रज नहीं पाएँगे।
युवक-युवती, नाच-गा नहीं पाए तो कब नाच-गा पाएँगे।

किन्नौर में हमउम्र सखा-सखियाँ आपस में बहुत प्रेम से रहते हैं। फुर्सत के दिनों विशेषकर सर्दियों में दो-तीन बार वे किसी के घर में अलग से कमरा लेकर खाने-पीने तथा नाच-गान का आयोजन करते हैं और खा-पीकर सारी

रात नाच-गान करके खुशी का इज़हार करते हैं। सखा-सखियों के इस आयोजन को 'तोशिम' कहा जाता है।

विवाह के कारण जब उनकी कोई सखी उनसे बिछुड़कर दूर किसी गाँव में चली जाती है तो सभी बहुत दुःखी होते हैं। उसके गाँव से दिखनेवाली अपने क्षेत्र की किसी ऊँची पहाड़ी पर 'रङ्-कोटङ्' यानी चबूतरे की चिनाई करते हैं, ताकि उनकी सखी अपने ससुराल की किसी पहाड़ी से अपने सखा-सखियों का प्रेम-प्रतीक 'रङ्-कोटङ्' देखती रहे और वहाँ अपने सखा-सखियों की उपस्थिति का उसे सदैव भान होता रहे। कामरु के दुदानवंश की लड़की ठाकुरमणि, जिसका विवाह अपने क्षेत्र से दूर रोगे के सङ्चेयान परिवार में हुआ था, उस पर रचित लोकगीत में सखा-सखियों के उक्त प्रेम-प्रतीक चबूतरा चिनने का वर्णन कुछ इस प्रकार हुआ है--

ठाकुर मोणिस लोतोश, अङ् सोरङ कोणिच़।
अङ् सोरङ कोणिच़, अङु सुनच़न्ना।
अङु सुनच़न्ना, बेठाट डाणियु देन द्वारच।
बेठाट डाणियुदेन द्वारच, द्रम कोटङ् पङरच।
द्रम कोटङ् पङरच, द्रम दरछोद शेरच।
द्रम दरछोद शेरच, शुम चु मुरुल शेरच।

अनुवाद

ठाकुर मणि ने कहा–
मेरे हमउम्र सखा-सखियो!
मेरी याद आए, तो बेठाट डाँडे पर निकलना!
वहाँ युगल चबूतरा चिनना!
(और उस पर) युगल पताका लगाना!
तीन वाक्य गीत गाना।

उपरोक्त विवरणों के अध्ययन से यह बात स्पष्ट होती है कि किन्नौरी समाज में लड़की के जन्म को भले ही खुशी के साथ न देखा जाता हो, किन्तु समाज में महिलाओं का स्थान पुरुषों से ऊँचा ही होता है और महिला परिवार में धुरी का काम करती है। महिलाओं के इन्हीं गुणों का ज़िक्र किसी न किसी रूप में यहाँ के लोकगीतों में भी हुआ है।

संदर्भ

1. पुत्रोत्पत्ति की खुशी में गाँववालो को भोज देना।
2. पुत्रोत्पत्ति की खुशी में ग्राम देवता को घर पर आमन्त्रित कर गाँववालों को भोज देना।

3. पुत्रोत्पत्ति की खुशी में ग्राम देवता को निर्धारित मदिरा भेंट करना। अतीत में मदिरा की जगह पशु बलि चढ़ाने की प्रथा थी।
4. पुत्रोत्पत्ति की खुशी में किन्नौर के कुछ गाँवों में 'ओरमी' नामक त्योहार विशेष के अवसर पर गाँववालों को चामो नामक पेय पिलाना।
5. छेच़-कोटिङ्च़ यानी लड़की किल्टा। जिस प्रकार किल्टा का प्रयोग सदैव सामान ढोने के लिए होता है ठीक उसी प्रकार किन्नौरी समाज में लडकियों को अपने मायके तथा ससुराल दोनों ही जगह सदैव काम में ही लगे रहना पड़ता है। इसलिए उन्हें किन्नौर के कुछ क्षेत्रों में 'छेच़-कोटिङ्च़' यानी 'लड़की किल्टा' कहते हैं।
6. 'पोल-कोटिङ्च़' यानी पूरियों से भरा किल्टा। लड़कियों के विवाह के अवसर पर मायके से उनके साथ एक किल्टा पूरियों से भरकर भी भेजते हैं। इसीलिए उन्हें किन्नौर के कुछ क्षेत्रों में 'पोल-कोटिङ्च़' यानी पूरियों का किल्टा भी कहते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि एक दिन उन्हें पूरियों के किल्टे के साथ ससुराल भेजना ही पडता है।
7. यहाँ जिस लड़की का विवाह हो रहा होता है उसका नाम आता है। लड़की का काल्पनिक नाम कलज़ङ् डोलमा रखा है, ताकि विवाह गीत की पंक्तियाँ सही बनें।

उपरोक्त सूचनाओं के लिए इन लोगों से भेंटवार्ता की गई—
1. श्रीमती ङवङ् डोलमा, आसरंग किन्नौर।
2. सुश्री अनि कृष्णा, चगॉव, किन्नौर।
3. श्री उमेश चन्द्र नेगी, आसरंग किन्नौर।
4. श्री सम्पूर्ण सिंह नेगी, स्पिलो, किन्नौर।
5. श्रीमती धर्मदासी, चगॉव, किन्नौर।
6. श्रीमती सुरेखा नेगी, निगुलसरी, किन्नौर।
7. कु. सिद्धेश्वरी, सॉगला, किन्नौर।
8. श्रीमती सुमित्रा देवी, चगॉव किन्नौर।

विपाशा : अंक-150, जनवरी-फरवरी, 2011 से

किन्नौर की लोक कलाएँ

डॉ. दिलवर शर्मा

किन्नौर को कई विद्वानों ने विभिन्न नामों से सम्बोधित किया है; जैसे विक्टर जैकमाऊँट ने कनावर (Kanawar), एच. ए. बोस ने कनौर (Kanaur), ए. जेराड़ ने कूनावुर (Koonawar) तथा महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने किन्नर देश। दन्त कथाओं में किन्नौर को किन्नर लोगों का निवास स्थान कहा गया है। किन्नरों को मानवों व देवताओं के मध्य की प्रजाति माना जाता है। अमरकोश (1,11,17) में इन्हें देव स्वरूप ही कहा गया है। मैक्समूलर इन्हें आदिवासी मानते हैं। किन्नर लोग देखने में किरात या मंगोलियाई मूल के लगते हैं। इनके नैन-नक्श आर्य लोगों से भिन्न हैं। वायुपुराण (41,46) किन्नरों को कैलास क्षेत्र का निवासी मानता है। एस. सी. चिब के अनुसार किन्नौरी लोग खश या खशिया कबीले के हैं। राहुल सांकृत्यायन का मानना है कि 'खश' शब्द 'शक' का ही विकृत रूप है। एस.सी. पंचानी के अनुसार किन्नौरवासी बिना किसी शक के प्राचीन किन्नरों के ही वंशज हैं।

एस. सी. वाजपेयी लिखते हैं कि किन्नौर से मानसरोवर तक का सम्पूर्ण क्षेत्र 'ठकरस' शासकों के शासन में रहा है। उन्हें उसी स्थान के नाम से जाना जाता था, जहाँ वे रहते थे। इनमें कामरू के ठक्कर सबसे अधिक शक्तिशाली थे, जिन्होंने अन्य छोटे शासकों को परास्त कर बुशहर राज्य की नींव रखी थी। संभवतः राजा छत्र सिंह ने ही सम्पूर्ण बुशहर को अपने अधीन किया था। मैदानी क्षेत्रों के अधीन बुशहर नहीं रहा है, परन्तु वहाँ से जो सांस्कृतिक धाराएँ बहीं हैं, वे यहाँ अवश्य पहुँची हैं। किन्नौर या बुशहर राज्य गुगे राज्य के प्रभाव क्षेत्र में रहा है। पूह में स्थित शिलालेख के अनुसार पश्चिमी तिब्बत में स्थित गुगे राज्य के राजा ये-शेस-ओद ने अपने बेटों को बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए इस क्षेत्र में भेजा था। किन्नौर में हिन्दू तथा बौद्ध धर्म, दोनों का ही

प्रभाव है, जो यहाँ की कलाओं में भी झलकता है। किन्नौरी लोगों ने अपने संगीत व नृत्यों को संजो कर रखा है। ये इनके जीवन का अभिन्न अंग है।

गीत व नृत्य

सदियों से चली आ रही लोक संगीत परम्परा किन्नौर के जन जीवन में आज भी यथावत देखने को मिलती है। यहाँ 'फुल्याच' जैसे त्यौहारों को बहुत ही तन्मयता से मनाया जाता है। किन्नौर की बालाओं को उनके मधुर संगीत के कारण किन्नर-कंठी भी कहा गया है। यहाँ के लोग प्रकृति के निकटस्थ होने के कारण संगीत प्रेमी हैं। गाँव के हर मेले में ग्रामवासियों का पारम्परिक वेशभूषा में नृत्य बहुत ही आकर्षक व मनोरम होता है। वाद्ययंत्रों को यथावत संजो कर रखा गया है और उनका भरपूर उपयोग होता है। यदि किन्नौरी महिलाओं का समूह किसी बस में सफर करता है तो वे दो छोटे समूहों में बंट जाती हैं और गायन प्रारम्भ हो जाता है। किन्नौर के अधिकतर गाने क्षेत्र की परम्परा, इतिहास या किसी महापुरुष के सन्दर्भ में होते हैं। ये गीत यहाँ के इतिहास को संजोने में भी सहायक हो सकते हैं।

स्थापत्य

लैथवी के अनुसार 'स्थापत्य' किसी भी सभ्यता का मैट्रिक्स होता है। स्थापत्य मानव के बौद्धिक विकास का प्रमाण है। वास्तुशास्त्रों का अध्ययन करके भवन निर्माण हेतु उपलब्ध सामग्री से वास्तुकार भवन निर्माण करता है। यह वास्तुशास्त्री पर ही निर्भर करता है कि वह उपलब्ध वास्तु-शास्त्रों से ही बंधा रहता है या अपने नए प्रयोग करता है।

निर्माण सामग्री के रूप में लकड़ी, पत्थर, मिट्टी, पक्की ईंटें और कच्ची ईंटें उपलब्ध रहती हैं। किन्नौर के कामगारों ने पकी हुई ईंटों का प्रयोग न कर, लकड़ी व पत्थर का बहुत ही सफल व कारगर इस्तेमाल किया है, जो इस भूकम्पीय क्षेत्र में सुरक्षित और शालीन है। सन् 1975 में आए भूकम्प में लियो में स्थित अधिकतर सरकारी पक्के भवन गिर गए थे, परन्तु स्थानीय स्थापत्य से बने भवनों को विशेष क्षति नहीं हुई थी। किन्नौर में तख्ते लगाकर मिट्टी भर कर उसे कूट कर दीवारें खड़ी करने की प्रथा आज तक कायम है। आवासीय घरों, किलों, मंदिरों व गोन्पाओं में विशिष्ट स्थापत्य की झलक मिलती है। इनके निर्माण से पूर्व स्थान का चयन, मूल ढाँचा, योजना, ऐलिवेशन, दरवाजें व खिड़कियाँ, छत व सीलिंग, स्तम्भ, गर्भ गृह, मंडप तथा मुखमंडप आदि पर विचार करके निर्माण सम्बंधी निर्णय लिया जाता है।

नींव पत्थरों की ही बनाई जाती है या कह सकते हैं कि यहाँ 'पाषाण

कुट्टिमा' का ही रिवाज़ रहा है। किन्नौर में लाबरंग, जंगी व कामरू में स्थित किले एक विशेष स्थापत्य शैली को दर्शाते हैं। यहाँ के आवासीय घरों की निर्माण शैली भी मैदानी क्षेत्रों से भिन्न है। ऊपरी किन्नौर के अधिकतर घर सपाट छतवाले हैं तथा निचले भाग के ढलवाँ छतवाले। किन्नौर में ग्राम-देवताओं (जैसे कानम में डबला) के मन्दिर अधिकतर छोटे व एक कमरेवाले हैं। भू-स्थान के आधार पर बौद्ध गोन्पा तीन प्रकार के हैं– 1. सान्धार (प्रदक्षिणा पथवाले) जैसे पूह का गोन्पा, 2. निरन्धार (बिना प्रदक्षिणा पथ के) जैसे लिप्पा में, 3. एक कमरेवाले गोन्पा जिन में मुख मंडप नहीं है, जैसे रिब्बा गाँव का गोन्पा। दीवारों में प्रोजैक्सन के आधार पर एकंग व द्वयंग प्रकार के गोन्पा पाए गए हैं। इनकी छतें समतल, ढलवाँ व पैगोड़ा-नुमा हैं तथा इन में रोशनी के लिए छतों में छिद्र होता है; जिसके ऊपर शंकु आकार की कैनोपी रहती है। कानम में स्थित गोन्पा की कैनोपी इसका एक सुन्दर उदाहरण है। एक हिन्दू मंदिर या बौद्ध गोन्पा में निम्नलिखित भाग होते हैं–

मुखमंडप : यह किसी भी मंदिर का सबसे सामने का भाग है, जो मंडप के पहले होता है। यह खुला या बन्द दोनों ही तरह का हो सकता है। मंडप का मुख्यद्वार मुखमंडप में ही खुलता है। बहुत कम मंदिरों में पूर्ण विकसित व स्पष्ट मुखमंडप पाये जाते हैं।

मंडप : मंदिर का दूसरा भाग मंडप होता है, जहाँ श्रद्धालु आकर बैठ सकते हैं। आराध्य देव का कीर्तन, योग-साधना या मन्त्रोचारण कर सकते हैं। यह सामान्यतया सबसे अधिक मापवाला बड़े आकार का भाग होता है। पूह व नाको के बौद्ध मंदिर इस तरह के मंडपों के उदाहरण हैं।

गर्भ गृह : यह सर्वाधिक पवित्र स्थल माना जाता है, जहाँ मुख्य देव की प्रतिमा स्थापित होती है। इस के अगल-बगल अनुचर विराजमान रहते हैं।

प्रदक्षिणापथ : यह गर्भगृह के चारों ओर श्रद्धालुओं द्वारा की जाने वाली परिक्रमा के लिए होता है। किन्नौर के पूह जैसे कम ही गोन्पाओं में यह पाया गया है। जिन मंदिरों में यह पाया जाता है, उनके भू-प्लान को सान्धार श्रेणी का कहा जाता है।

ये चारों भाग केवल पूर्ण विकसित मंदिरों में ही पाए जाते हैं। ऊपरी किन्नौर में लकड़ी की कमी व तेज़ व ठंडी हवा चलने के कारण खिड़कियाँ बहुत ही कम होती हैं। बौद्ध मंदिरों में पूजा हेतु एक प्रार्थना-चक्र भी लगाया जाता है। यह मंडप या मुख मंडप में स्थापित होता है तथा लिप्पा जैसे मंदिरों में इसके लिए अलग कक्ष का भी निर्माण किया गया है। कुछ मंदिरों की

बाहरी दीवारों पर भी कई छोटे प्रार्थना-चक्र हैं।

मूर्तियाँ

आदिम मानव कृत्रिम दुनिया से दूर प्रकृति की शरण में घुल-मिल कर रहता था। वह बहुत-सी प्राकृतिक घटनाओं को देख कर विस्मित व भयभीत भी होता था। कुछ प्राकृतिक घटनाएँ जैसे– तड़ित, तेज़ वर्षा, बाढ़, आंधी-तूफ़ान तथा तेज़ चमकता प्रचण्ड ऊष्मा देता सूर्य इत्यादि मनुष्य जीवन को हानि पहुँचाते थे। तभी मानव को कुछ अदृश्य शक्तियों का भी आभास होता रहा। कालांतर में मानव ने इन प्राकृतिक घटनाओं के देवता तथा रूप की परिकल्पना की, जिसे अंग्रेज़ी में 'एन्थ्रोपोमोरफिज़्म' (Anthropomorphism) कहते हैं। यह सब प्राकृतिक प्रकोपों के भय से त्राण पाने का प्रयास रहा होगा। तत्पश्चात् मानव ने प्राकृतिक घटनाओं से इतर कई देवी-देवताओं व उनके अनुचरों की कल्पना की। इस तरह प्राकृतिक देवों, अभिकल्पित देवों, राजाओं व महापुरुषों और पूज्य मनीषियों की संख्या निरंतर बढ़ती गई। देवों का रंग, वाहन, आसन तथा मुद्राएँ आदि भी रूढ़ हो गए।

भारत में हिन्दू धर्म से सम्बंधित मूर्तियाँ पहले निर्मित हुई थीं। बौद्ध धर्म पहले मूर्ति पूजा के विरूद्ध था, परंतु बौद्ध धर्म के लोग भी बहुत समय तक अपने आप को रोक नहीं सके। वह भी भगवान बुद्ध व उनके अनुयायियों को मूर्त रूप में देखना चाहते थे। परन्तु नियम कोई सामान्य व्यक्ति या कोई कलाकार नहीं तोड़ सकता था। इस निर्णय के लिए किसी महापुरुष या राजा की आवश्यकता थी। इसलिए सम्भवतः कनिष्क के राज्यकाल में बुद्ध की प्रथम प्रतिमा का सृजन हुआ। ए.के. कुमारस्वामी के अनुसार देवों, मानवों व यक्षों की मूर्तियाँ तीसरी शताब्दी ई.पू. में मौजूद थीं। भागवत आन्दोलन प्रथम शताब्दी ई. से पहले प्रारम्भ हो गया था, जिससे मूर्ति निर्माण को बहुत अधिक बढ़ावा मिला व गुप्त काल में तो यह पराकाष्ठा पर था।

कलाकारों व मूर्तिकारों के निर्देशन हेतु कई ग्रंथ विद्यमान हैं, जो मूर्तियों के माप से लेकर सम्पूर्ण दिशा-निर्देश देते हैं। इनमें कुछ इस प्रकार हैं– साधनमाला, निष्पन्नयोगावली, मञ्जुश्रीमूलकल्प, वैपुल्य सूत्र, सद्धर्मपुण्डरीक इत्यादि। शिल्पकारों ने पाषाण प्रतिमाओं का निर्माण प्रारम्भ किया। ऐसी मूर्ति के निर्माण में काफी समय लग जाता है। जब मूर्तियों की मांग अधिक हो गई तो शिल्पकारों ने तेज़ी से निर्माण हेतु टैराकोटा का प्रयोग किया। परन्तु ये मूर्तियाँ अधिक टिकाऊ नहीं थीं। कालांतर में संगमरमर तथा लकड़ी की प्रतिमाएँ भी बनाई गईं। पाषाण प्रतिमाओं के लिए विशेष प्रकार की

चट्टान के पत्थरों का ही प्रयोग हो सकता है, परन्तु मृण्मूर्तियों के लिए मृण् व्यापक मात्रा में उपलब्ध हो जाती है। किन्नौर में हिन्दू मंदिरों की तुलना में बौद्ध गोन्पा अधिक हैं, जिनमें प्रचुर मात्रा में मृण्मूर्तियाँ उपलब्ध हैं। यहाँ संगमरमर व पाषाण मूर्तियाँ कमतर हैं। प्रस्तुत लेख में केवल अष्टधातु की कुछ प्रमुख मूर्तियों का वर्णन किया जा रहा है।

प्राचीन काल से ही अष्टधातु की मूर्तियाँ (Bronzes) हिन्दू व बौद्ध मंदिरों की विशेषता व शान रही हैं। ये मूर्तियाँ मंदिर में ही नहीं, परन्तु लोगों के घरों में भी पाई गई हैं। किन्नौर में उपलब्ध इन मूर्तियों की प्राचीनता, गुणवत्ता व कला निपुणता बेजोड़ है। इसलिए ये मूर्तियाँ चोरों व अन्य कलासंग्राहकों के निशाने पर रहती हैं। लाहुल-स्पीति से तो अष्टधातु की मूर्तियाँ लगभग समाप्त ही हो गई हैं, परन्तु किन्नौर में अभी भी इनका अतुल्य भंडार मौजूद है। इनकी गणना व सुरक्षा एक अहम कार्य है।

मूर्तियों के निर्माण में कुल्लू, चम्बा, शिमला व किन्नौर के शासक व अन्य कला संरक्षकों ने काफी योगदान किया। चम्बा में तो यह कला अभी भी जीवित है। वहाँ इसका प्रशिक्षण अभी भी चलता है। सामान्यतः वहाँ उपलब्ध मूर्तियों का निर्माण 'Lost wax Process' से हुआ है। कई मूर्तियों के आधार पर आलेख (Inscription) भी पाए गए हैं।

रमणीक सांगला घाटी में कामरू एक गाँव है, जो सांगला के बिल्कुल निकट स्थित है। यह कामरू के ठकरस का मुख्यालय था और उनका किला वहाँ अभी भी सुरक्षित है। कामरू से ही बुशहर राज्य की नींव पड़ी थी। यहाँ स्थित 'मोने लाखंग' गोन्पा 1992 में सुर्खियों में आया, जब जून महीने में यहाँ से मूर्तियाँ चोरी हो गईं। वे मूर्तियाँ सितम्बर, 1993 में हिमाचल भवन, दिल्ली के पास बरामद हो गई थीं। परन्तु मंदिर के पुजारी व स्थानीय जनता, मुख्य मूर्ति व कुछ अन्य को छोड़कर शेष मूर्तियों को पहचानने में असमर्थ थे। उन्हें तो यह भी ज्ञात नहीं था कि कितनी मूर्तियाँ चोरी हुई हैं। इस गोन्पा की मुख्य मूर्ति ही चोरी हो गई थी। उसका आकार 78 सै.मी.X 27.5 सै.मी. है। बौद्धों के प्रसिद्ध देव अवलोकितेश्वर की यह मूर्ति बहुत सुन्दर कलाकृति है। इसमें बोधिसत्त्व को धोती पहने दिखाया गया है। कंधे से मृगछाला लटक रही है। उनके दोनों बायें हाथों में कमल व पुस्तक हैं तथा एक दायें हाथ में अक्षमाला है और दूसरा वरद मुद्रा में है। सिर पर सुन्दर मुकुट तथा आधार में दो पंक्तियों का आलेख (Inscription) है। वहाँ अन्य मूर्तियों में देवी तारा, प्रज्ञापारमिता व महाकाल की मूर्तियाँ शामिल हैं। अवलोकितेश्वर की मूर्ति

निश्चित ही ग्यारहवीं शताब्दी की है व अन्य मूर्तियाँ 15 वीं या 16वीं शताब्दी की प्रतीत होती हैं। यहाँ कुछ मूर्तियाँ बीसवीं शताब्दी की भी हैं। इस तरह यहाँ तीन कालों की मूर्तियाँ मौजूद हैं।

अष्टधातु की मूर्तियों के सन्दर्भ में छितकुल गाँव का गोन्पा विशेष स्थल है। यहाँ का भवन तो अर्वाचीन प्रतीत होता है, परन्तु मूर्तियाँ प्राचीन हैं। यहाँ पर हमने लगभग 30 मूर्तियाँ गिनी थीं और इतनी संख्या कहीं भी उपलब्ध नहीं हैं। यहाँ शाक्यमुनि, चौंखापा, वज्रधर, महामायूरी व महासीतावती की प्रतिमाएँ मौजूद हैं। शाक्यमुनि की प्रतिमा के आधार पर शारदा लिपि में– *'ये धर्महेतु प्रभवा तेषां तथागतो ह्यवदत् तेषां च यो निरोधो एवं वादी महश्रमण:'* यह आलेख है। शारदा लिपि काश्मीरी कलाकारों की मौजूदगी दर्शाती है। ऐसा ही ताबो गोन्पा में भी है। दोनों पंचरक्षक देवियों के आधार पर 'नागराज' शब्द उकेरा गया है। नागराज गुगे के राजा ये-शेस-ओद का एक पुत्र है। ये-शेस-ओद ने 10 वीं व 11 वीं शताब्दी में गुगे में राज किया था। वहाँ 10 वीं शताब्दी से आधुनिक काल तक की मूर्तियाँ हैं।

काष्ठ कृतियाँ

किन्नौर में ललित कलाओं एवं शिल्पों की बहुत-सी विधाओं में काष्ठ कला का विशेष प्रचलन रहा है। काष्ठ का भवन निर्माण, मूर्तियों, दरवाजों, वाद्ययन्त्रों आदि में प्रचुर प्रयोग हुआ है। यहाँ की काष्ठ कला में कश्मीर का प्रभाव दिखाई देता है। रत्नभद्र की जीवन कथा में वर्णित है कि वह कश्मीर से 32 विशिष्ट कामगारों को मंदिर बनाने के लिए लाये थे। किन्नौर के अनेक बौद्ध मंदिरों के निर्माण को वहाँ के लोग रत्नभद्र से जोड़ते हैं। वहाँ बहुत-से धार्मिक स्थलों में अनेक काष्ठ मूर्तियाँ हैं। तक्षकों ने इसके लिए देवदार तथा अखरोट की लकड़ी प्रयोग की है।

रिब्बा की देवी तारा का गोन्पा उल्लेखनीय है। विडम्बना है कि यह गोन्पा आग की भेंट चढ़ चुका है। यही एक मात्र गोन्पा था जो आधार से कलश तक पूर्णरूपेण काष्ठ निर्मित था। काष्ठ की अमूल्य धरोहर इसका द्वार था, जो अपने आप में आगे की सम्पूर्ण दीवार था। पुराणों में द्वार की शाखाओं के बारे में लिखा है– *'त्रि पंच सप्त नवभि:'* अर्थात् द्वार की तीन, पाँच सात या नौ शाखाएँ होनी चाहिए। द्वार की जितनी शाखाएँ होंगी उतने ही लिंटल भी होंगे। इस गोन्पा के द्वार में पाँच शाखाएँ व पाँच ही लिंटल थे। इस दरवाजे को एक तख्ते से दो असमान भागों में बाँटा गया था, जिस पर 12 पशुओं के चित्र थे। ये वे पशु हैं जिन पर तिब्बती वर्षों के नाम रखे गए हैं।

दरवाजे की शाखाओं, ललाटबिम्ब व लिंटल पर उकेरे गए चित्रों के सौंदर्य को तक्षकों ने चार चाँद लगाए थे।

द्वार की सबसे भीतरी शाखा पर पुष्पलता उकेरी गई थी। दूसरी पर शंख, तीसरी पर पुष्पलता, चौथी पर मनुष्यों व बोधिसत्त्वों के चित्र व पाँचवीं शाखा पर पत्रलता उकेरी गई थी। द्वार के ललाटबिम्ब पर देवी तारा का रूप उकेरा गया था, जिसके प्रति यह मंदिर समर्पित था। इसके दोनों ओर चार-चार छोटी मूर्तियाँ उकेरी गई थीं। तीसरे लिंटल के मध्य में तथागत वैरोचन व उनके दोनों ओर गन्धर्व व अप्सराएँ थीं। अन्य लिंटल-पट्टियों पर शाखाओं के अनुरूप ही डिज़ाइन थे। इस दरवाजे पर उकेरे गए शंख 'खोजरनाथ' मठ के शंखों से मेल खाते हैं, जिसे विद्वानों ने दसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का माना है। अतः इस गोन्पा का काल 11वीं शताब्दी का माना जा सकता है। इस मंदिर की अन्य तीन दीवारों के ऊपरी भाग में लकड़ी पर Trefoliated arch तथा उसके ऊपर त्रिकोणीय gable बनी हुई थी। Trefoliated arch गन्धार कला की विशेषता रही है तथा त्रिकोणीय gable सीरिया तथा वाईजैन्टाइन के भवनों में प्रयुक्त होती थी। इन दोनों का संयुक्त प्रयोग कश्मीरी वास्तुकला की विशेषता होती थी। अतः यहाँ कश्मीर कला या कारीगरों का प्रभाव झलकता है।

भित्ति एवं थंका चित्र

कोई भी बौद्ध मंदिर भित्ति-चित्रों के विना पूर्ण नहीं होता है। इनमें योजना के अनुसार सभी दीवारों पर चित्र बनाए जाते हैं। दीवारों पर या तो सीधे ही चित्र बनाए जाते हैं या उन पर कपड़ा चिपकाकर चित्र उकेरे जाते हैं जैसा कि कानम बौद्ध मंदिर में किया गया है। अधिकतर मंदिरों में दीवारों पर सीधे ही चित्र बनाए गए हैं। किन्नौर के सभी प्राचीन मंदिरों की दीवारों पर मिट्टी का ही पलस्तर किया गया है। अतः इन दीवारों को चित्र बनाने से पहले एक लम्बी प्रक्रिया द्वारा तैयार किया जाता है। दीवारों को वहुत मुलायम व जलरोधी बनाया जाता है, ताकि नमी से चित्र खराव न हों तथा उनकी आयु भी लम्बी हो जाए। दीवारों पर जानवरों की चर्बी का भी प्रयोग किया जाता है। तोख्लो में स्थित मंदिर की एक दीवार पर लोगों द्वारा भेड़ों की खालें मंदिर को दान देने का उल्लेख है।

दीवारों पर चित्रण में 'फ्रैस्को बूनों' या 'टेम्परा' विधियों का प्रयोग किया जाता रहा है। 'फ्रैस्को बूनों' मूलतः इतालवी विधि है। इसमें चित्र उसी वक्त बना लिए जाते हैं जब पलस्तर अभी गीला ही होता है,। वे पलस्तर व दीवार

का ही भाग बन जाते हैं। भारतीय 'फ्रैस्को' विधि और इतालवी विधि में Machanical beating; burnishing और polishing जोड़ दिए जाते हैं। भारत की भौगोलिक स्थिति इटली से भिन्न है। प्राचीन काल के भित्ति-चित्रों में प्राकृतिक रंगों का प्रयोग किया गया, जिन के स्रोत व शोधन के विषय में कई ग्रन्थ सहायक हैं। विष्णुधर्मोतर पुराण में पाँच मूल रंगों श्वेत, पीला, लाल, काला तथा हरा का उल्लेख मिलता है और उनके स्रोतों का भी वर्णन है। अन्य रंग इन पाँच रंगों के संयोग से बनाए जाते हैं। आजकल संश्लिष्ट रंगों का अधिक प्रयोग होने के कारण प्राकृतिक रंग का महत्त्व गौण होता जा रहा है व इनका ज्ञान भी क्षीण होता जा रहा है; जिस कारण यह कला भी समाप्त हो सकती है। सभी देव चित्रों के आकार में उनके अंगों के बीच अनुपात निश्चित होता है और उसी का अनुसरण करते हुए कलाकारों ने किन्नौर में चित्र बनाए हैं। चित्रण की तकनीक, आकार, रंगों के शोधन व उपयोग और देवों के आसन व मुद्राओं के सम्बंध में कुछ अन्य ग्रन्थ हैं– समरांगण सूत्रधार, अपराजित पृच्छ, अभिलाषितार्थ चिन्तामणि, कलाचक्र, सम्वर तन्त्र व शिल्प रत्न इत्यादि। कलाकार के लिए इन ग्रन्थों का ज्ञान ज़रूरी है या उसे किसी जानकार के निर्देशन में यह कार्य करना होता है।

बौद्ध मंदिरों में केवल योजनाबद्ध तरीके से ही चित्रण किया जाता है। अधिकतर मंदिरों के मुख्य देव के अनुरूप ही चित्रांकन होता है। किन्नौर के अधिकांश गोन्पाओं में निम्न भित्ति-चित्र पाए जाते हैं-- शाक्यमुनि तथा उनके जीवन से सम्बंधित घटनाएँ (अनेक मंदिरों में है), पाँच तथागतों व उनके अनुचरों के चित्र, जीवन चक्र (ठंगी), पद्मसम्भव व उनके रूप, अवलोकितेश्वर, चौरासी सिद्ध (लिप्पा), चौंखापा व उनके अनुचर, महाकाल, तांत्रिक धर्म रक्षक, तारा के 21 रूप इत्यादि। इस तरह के चित्र कपड़े पर भी उकेरे जाते हैं। इन्हें थंका कहते हैं। कानम में इस तरह के अनेक चित्र हैं।

किन्नौर में सभी कलाओं के अतुल्य भंडार मौजूद हैं, जिनके संरक्षण की आवश्यकता है अन्यथा रिब्बा के लाखंग छैनमों की तरह मात्र पुस्तकों में ही इनके रिकार्ड मिलेंगे। पुराने बौद्ध मंदिरों का महत्त्व मात्र शोधार्थियों तक सिमटता जा रहा है तथा स्थानीय जनता के मानस पटल पर नव निर्मित मंदिर ही छा रहे हैं। स्थानीय जनता इन ललित कलाओं के बारे में अनभिज्ञ है।

विपाशा : अंक-150, जनवरी-फरवरी, 2011से

हिमालयी बौद्ध-विद्या के पश्चिमी अग्रदूत कोरोशी चोमा शान्दोर

डॉ. हीरापाल गंगनेगी

हिमालय, विशेषतः पश्चिमी हिमालय-क्षेत्र सदियों से मानव के लिए चुनौतियों भरा आकर्षण केंद्र रहा है। इसे कई सभ्यताओं एवं संस्कृतियों को सींचने का गौरव प्राप्त है। कैलास मानसरोवर के पावन परिसर से निकलनेवाली सिन्धु, सतलुज, दक्षिण की ओर बहती करनाली, जो पवित्र गंगा में मिलती है; फिर पूर्व की ओर बहती चड़्पो यानी ब्रह्मपुत्र–ये नदियाँ क्रमशः सिन्धु, सतलुज की वादियों, गंगा-दोआबा के विशाल भू-क्षेत्र तथा तिब्बत की यरलुङ् सभ्यता की मूल कारक हैं। इन सभी का उद्‌गम स्थल एक हिमालय ही है। इस क्षेत्र ने विभिन्न जातियों एवं विदेशी आक्रमणकारियों को अपनी ओर आकृष्ट किया है, जो कालान्तर में या तो पूर्णतः भारतीय सभ्यता की मुख्य-धारा में सम्मिलित हो गए या उनके कुछ अवशेष-मात्र ही रह गये हैं।

यवन, शक एवं कुषाणों की भाँति एशिया की हूण मंगोल जाति भी इस प्रकार के बाहरी आक्रमणकारियों में से एक थी, जिसने इस हिमालय क्षेत्र को बहुत प्रभावित किया। इन्हीं में से कई जातियाँ अनेक समूहों में, कई अन्तरालों में, पूर्व से पश्चिम की ओर अग्रसर होते हुए, यूरोप तक जा पहुँची। यूरोप में हंगरी एक ऐसा देश है जो यूरोपीय भू-भाग में स्थित होते हुए भी सभ्यता एवं संस्कृति के प्रति अपना सम्बंध एशिया से जोड़ने में गर्व अनुभव करता है। वास्तविकता क्या है ? इनके पूर्वज कौन थे ? कब और कहाँ से आकर यहाँ बसे? निश्चित रूप से कहना कठिन है। इसी प्रश्न के उत्तर की खोज एवं अपने पूर्वजों की जन्मभूमि की तलाश की चुनौती को 200 वर्ष पूर्व एक व्यक्ति ने स्वीकार किया था, जिसे बाद के इतिहास में अलेक्ज़ेंडर चोमा दी कोरोस के नाम से जाना गया।

हंगरी निवासी अपने इस सपूत को कोरोशी चोमा शान्दोर के नाम से पुकारते हैं, जिसका अंग्रेज़ी अनुवाद अलेक्ज़ेंडर चोमा दी कोरोस है। इसका संक्षेप कोरोशी चोमा अर्थात् 'कोरोस गाँव का चोमा' अन्यथा 'चोमा कोरोशी' है। बर्तानिया सरकार के कई अधिकारियों ने उन्हें एम.डी. कोरोस के नाम से भी सम्बोधित किया है। मध्य एशिया की यात्रा में सुविधा हेतु उसने अपना नाम 'सिकन्दर वेग' रखा। उसने भारत में ब्रिटिश सरकार से अनुरोध किया था कि उसे अंग्रेज़ी में 'मि. अलेक्ज़ेंडर चोमा, हंगरी के एक दार्शनिक तथा ट्राँसिल्वानिया के नागरिक होने का' और उसके पारसी रूपान्तर, 'मोल्ला इस्कन्दर चोमा अज़मुल्के रूम (अर्थात् यूरोप)' नाम से दो पार-पत्र दिए जाएँ। उनके इस आग्रह को ब्रिटिश सरकार ने सहर्ष स्वीकार किया था।

जिस भौगोलिक, सामाजिक एवं आर्थिक परिवेश में चोमा का लालन-पालन हुआ था, उन परिस्थितियों की तुलना में तत्कालीन हिमालय क्षेत्र के साधारण जनजीवन की कठिनाइयों में कुछ विशेष अन्तर नहीं था। परन्तु चोमा ने जिस अदम्य साहस एवं व्यक्तिगत निष्ठा का उदात्त परिचय दिया था, ऐसा शायद ही कोई कर पाया हो। चोमा के जीवन से सम्बंधित सबसे अधिक प्रामाणिक स्रोत उनके द्वारा 25 जनवरी, 1825 को कैप्टन कनैडी के नाम लिखा वह पत्र है जिसमें उन्होंने अपने बचपन से लेकर सपाटू पहुँचने तक की चर्चा की है। फिर इसी बीच कैप्टन जेराई की किन्नौर में कानम गाँव के ल्हुन्डुब गेफेल (खद्दे लाखड़) गोन्पा में चोमा से भेंट एवं उनके लिखे अन्य पत्रों की कड़ियाँ चोमा के अध्ययन तथा उनकी ऐतिहासिक उपलब्धियों का लेखा-जोखा प्रस्तुत करती हैं। इस महान शोधार्थी के अन्तिम क्षणों का मार्मिक वर्णन चोमा के अन्तरंग मित्र एवं प्रसिद्ध चिकित्सक अर्किबाल्ड कैम्पबेल ने सन् 1842 की रिपोर्ट में किया है। इसके अतिरिक्त डॉ. थ्योदोर डूका, इर्विन बाक्ते एवं जोसेफ तर्जेक इत्यादि अन्य कई हंगेरियन लेखकों ने चोमा की जीवनी पर प्रकाश डाला है। इस संदर्भ में डॉ. डूका का योगदान सर्वोपरि है।

कई स्रोतों से सूचनाएँ संकलित करके थ्योदोर डूका ने सन् 1885 में लन्दन से 'अलेक्ज़ेंडर चोमा दी कोरोस का जीवन एवं कृतियाँ' शीर्षक से एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक प्रकाशित की। सन् 1984 में चोमा के द्विशताब्दी वर्ष के राष्ट्रीय समारोह के उपलक्ष्य में जोसेफ तर्जेक ने अंग्रेज़ी में 'अलेक्जेंडर चोमा दी कोरोस (1784-1842) : एक संक्षिप्त जीवनी' नाम से एक पुस्तिका का प्रकाशन किया था जिसे कोरोशी चोमा की संकलित कृतियों–(1) तिब्बती–अंग्रेज़ी

शब्दकोश, (2) तिब्बती भाषा का व्याकरण, (3) तिब्बती अध्ययन (4) संस्कृत-तिब्बती-अंग्रेज़ी शब्दावली, बुदापेस्ट (हंगरी) के अकादेमियाई कियादो द्वारा चार भागों में प्रकाशित ग्रन्थों की भूमिका के रूप में भी दिया गया था।

डॉ. डूका को प्राप्त दस्तावेज़ों के आधार पर कोरोशी चोमा शान्दोर का जन्म 4 अप्रैल, 1784 ई. में ट्राँसिल्वानिया प्रांत के हारोमज़ेक ज़िला के कोरोस गाँव में हुआ था। यह गाँव कोवाशना शहर के निचले भाग की मनोरम घाटियों में बसा है। वहाँ के निवासी लकड़ी की सुन्दर वस्तुओं के अतिरिक्त सूप (Siever) के निर्माण में दक्ष थे, जिसकी माँग दूर-दूर तक थी। कोरोस हंगरी का एक ऐसा गाँव है जहाँ के निवासी प्राचीन योद्धा-समुदाय से सम्बंधित हैं, जिन्हें 'शेकली' नाम से जाना जाता है। कोरोस में परम्परागत ज़मींदार एवं कृषक में कोई विशेष भेद-भाव नहीं था। वे स्वयं अपने भू-भाग के स्वामी माने जाते थे। जिस घर में कोरोशी चोमा का जन्म हुआ था, यद्यपि वह आग से नष्ट हो गया था, परन्तु प्राप्त स्रोतों के अनुसार उस मकान पर अंकित संख्या 143 थी, जहाँ अब नया मकान बनाया गया है।

कोरोशी चोमा के पिता का नाम एन्ड्रीयू एवं माता का नाम ईलोना गोज़ था। उनका यह परिवार निर्धन अवश्य था, परन्तु उनके वंशज हंगरी की शूरवीर उच्च सैन्य जाति से सम्बंधित थे, जिन्होंने सदियों से ट्राँसिल्वानिया को पड़ोसी ऑटोमन-तुर्क आक्रमणकारियों से सुरक्षित रखा। जोसेफ तर्जेक का मानना है कि ये शेक्लर हंगरी की एक विशेष जाति है। सम्प्रति यूरोप में ये विशेष स्थान रखते हैं। ये शेक्लर न बन्धुआ कृषक हैं और न इन्हें कुछ सम्भ्रांत विशेषाधिकार प्राप्त हैं। डॉ. डूका लिखते हैं, "चोमा का परिवार अब भी (सन् 1885) कोरोस में जाना-माना है।" कोरोशी चोमा के अनुज गैबरियल का एक बेटा जीवित था, जिसका नाम अलेक्ज़ेंडर था। जोसेफ चोमा रिश्ते में अलेक्ज़ेंडर चोमा का चचेरा भाई एवं बचपन का साथी था, वह चोमा के विषय में कहता है, "बाल्यकाल से ही उसे ज्ञान के प्रति रुचि थी और वह जिज्ञासु प्रवृत्ति का व्यक्ति था। नियमित व्यायाम से उसका शरीर बलिष्ठ था। वह किसी भी प्रकार की कठिन परिस्थितियों का सामना करने के लिए सक्षम था। बाह्य रूप में हम दोनों एक से थे, परन्तु क्षमता में एक जैसे नहीं थे। जैसे यदि मैं अधिक चलता हूँ तो थककर मुझे आराम करना पड़ता है, परन्तु मेरा भाई अलेक्ज़ेंडर जब चलना शुरू करता था तो यात्रा के अन्तिम पड़ाव तक पहुँचे बिना रुकता नहीं था।"

अलेक्ज़ेंडर चोमा की प्रारम्भिक शिक्षा अपने गाँव में हुई। परम्परानुसार

16 वर्ष की आयु में उन्हें सीमान्त प्रहरी में भर्ती होकर 50 वर्ष की आयु तक सेवारत रहते हुए भी अपनी पारिवारिक खेती तथा अन्य भू-सम्पत्ति की देख-रेख करनी पड़ती थी। लेकिन चोमा की ज़िद्द, पढ़ाई के प्रति लगन तथा उत्साह को देखते हुए पिता एण्ड्रीयू ने 15 वर्ष की आयु में आम परम्परा के विपरीत उन्हें अपनी पढ़ाई जारी रखने की अनुमति दे दी। साथ ही पिता ने यह भी सोचा कि अपनी थोड़ी-सी ज़मीन-जायदाद भी बिना बंटवारे उनके छोटे बेटे को मिल जाएगी। इस प्रकार अपने बड़े पुत्र अलेक्ज़ेंडर चोमा को कोरोस से 300 कि.मी. दूर नॉजएन्यड में बेथलेयानम के प्रसिद्ध प्रोटेस्टेन्ट स्कूल में प्रवेश दिलाया। इसका तात्पर्य यह नहीं था कि आसपास कोई अच्छा स्कूल नहीं था। अच्छे स्कूल तो थे, परन्तु वहाँ उन्हें पढ़ाई के लिए पूरी फीस देनी पड़ती, जिसके लिए वे समर्थ नहीं थे। अतः नॉजएन्यड ही एक ऐसी जगह थी जहाँ चोमा की पढ़ाई निःशुल्क हो सकती थी। परन्तु उसके बदले में उन्हें पाठशाला की प्रबंध व्यवस्था में काम करना था, जिसके लिए चोमा तैयार था। नॉजएन्यड के इस सुप्रसिद्ध एवं सम्पन्न शिक्षा संस्थान की स्थापना सन् 1622 ई. में ट्राँसिल्वानिया के राजकुमार गाबोर बेथलन ने की थी।

अलेक्ज़ेंडर चोमा ने सन् 1799 में अपनी पढ़ाई 'प्राथमिक स्तर' से आरम्भ की। यहाँ की प्रचलित शिक्षा-पद्धति के अनुसार प्रवेश के लिए 'प्रारंभिक स्तर' का कुछ विशेष पाठ्यक्रम उत्तीर्ण करना अनिवार्य होता था। सौभाग्यवश, उन्हें इसमें छूट मिल गई। वास्तव में प्रारम्भिक स्तर के शिक्षार्थियों को सही मायने में छात्र नहीं माना जाता था, क्योंकि उन्हें पाठशाला के अध्यापकों के द्वारा नहीं, अपितु प्राध्यापक द्वारा नियुक्त, किसी वरिष्ठ छात्र द्वारा पढ़ाया जाता था और वही छात्र-अध्यापक प्राथमिक-स्तर से सम्बंधित हर मामलों का उत्तरदायी भी होता था। प्राथमिक-स्तर का यह अध्ययनकाल 8 वर्षों का होता था। प्रथम तीन वर्षों की आरम्भिक पढ़ाई लेटिन भाषा में होती थी। चौथे वर्ष में लेटिन साहित्य, पाँचवें एवं छठे वर्ष में प्राचीन रोमन साहित्य, सातवें वर्ष में प्राचीन ग्रीक साहित्य एवं आठवें वर्ष में तर्क-शास्त्र की पढ़ाई के साथ प्राथमिक-स्तर की पढ़ाई की अवधि पूरी हो जाती थी।

इस प्राथमिक-स्तर में गरीब छात्रों की शिक्षा, भोजन तथा रहने के लिए निःशुल्क आवास की व्यवस्था स्कूल की ओर से थी। इसके बदले में छात्र को विद्यालय परिसर से सम्बंधित हर काम करना होता था। इसीलिए उन्हें सेवारत छात्र भी कहा जाता था। काम में अनियमितता एवं असावधानी की

स्थिति में कठोर दंड भी दिया जाता था। अलेक्ज़ेंडर चोमा-डी-कोरोस ने इस प्रकार अपनी आरम्भिक शिक्षा प्राप्त की। थोड़ी-बहुत ट्यूशन की आय से वह अपनी आवश्यकताओं को पूरा करते और साथ ही मितव्ययता से कुछ धन भी संचित किया करते थे। यहीं चोमा को प्रो. सैम्युल हेगेदुश जैसे मित्रवत् कल्याणकारी प्राध्यापक के सान्निध्य में रहकर शिक्षा पाने का अवसर मिला। चोमा को इतिहास में विशेष रुचि थी और प्रो. अदम हेरेपेई इतिहास के सुप्रसिद्ध प्राध्यापक थे। उनके भाषणों ने चोमा को बहुत प्रभावित किया। विशेषतः वे प्रसंग जो हंगरी के जन-जीवन एवं उसके प्राचीन इतिहास से जुड़े होते थे। उनके इन भाषणों से प्रभावित होकर चोमा एवं उनके कुछ मित्रों ने हंगारियों के मूल स्थान एवं सांस्कृतिक विरासत के वैज्ञानिक अनुसंधान करने की प्रतिज्ञा भी की थी।

बाईस वर्ष की आयु में चोमा ने अपनी प्राथमिक-स्तर की पढ़ाई पूरी की। इस कठिन प्रवेश-परीक्षा को उत्तीर्ण करके उन्होंने 'उच्च-स्तरीय' शिक्षा में प्रवेश ले लिया, जो सहज नहीं था। इस श्रेणी में पहुँचते ही विद्यार्थी के जीवन में आमूल परिवर्तन आता था। अब उसे विद्यालय का वास्तविक छात्र माना जाता था। प्राथमिक-स्तर के छात्र अपना टोप उतारकर उन्हें 'सर' कहकर सम्बोधित करते थे। साथ ही अपने अध्ययन के क्षेत्र अनुसार विभिन्न छात्रवृत्तियाँ भी उनके लिए उपलब्ध थीं। इन सभी छात्रवृत्तियों में सबसे अधिक लुभानेवाली छात्रवृत्ति 'प्रिन्सेज़ फाउण्डेशन' से दी जाती थी। इसे प्राप्त करने का तात्पर्य प्रतिष्ठा एवं आर्थिक सम्पन्नता से था। अलेक्ज़ेंडर चोमा ने अपनी योग्यता से इसे प्राप्त किया। इसके अलावा प्राथमिक-स्तर के छात्रों को पढ़ाने की नियुक्ति भी मिल गई, जिसके लिए चोमा को अलग से थोड़ी-बहुत धन-राशि मिल जाती थी। इस प्रकार उनकी आर्थिक स्थिति तो सुधरी ही, साथ ही उन्हें मान-सम्मान भी प्राप्त हुआ। यह सब उन्होंने मात्र गहन अध्ययन एवं कठोर परिश्रम से प्राप्त किया था।

उच्च-स्तरीय शिक्षा की अवधि 7 वर्षों की होती थी, जिसमें प्रथम तीन वर्षों में दर्शन तथा अन्तिम के चार वर्षों में थिओलॉजी (धर्म-शास्त्रों) की पढ़ाई प्राध्यापकों द्वारा कराई जाती थी। सन् 1814 में कोरोशी चोमा ने अपनी उच्च-स्तरीय शिक्षा को पूरा किया। साथ ही वे लेटिन, प्राचीन ग्रीक, हिब्रु, अरबी, फ्रैंच, स्लाविक तथा तुर्की भाषा में भी सिद्धहस्त हो गए। चुने हुए छात्र-प्रतिनिधि होने के कारण उन्हें एक वर्ष और इस महाविद्यालय में रुकना पड़ा। इन 15 वर्षों के अध्ययन-काल में चोमा केवल दो ही बार अपने गाँव

जा पाए थे। चोमा अब 31 वर्ष के हो गए थे। इस व्यस्क की शारीरिक संरचना के विषय में उनके मित्रों का कहना था कि "वह मध्यम लम्बाई का हृष्ट-पुष्ट, स्वस्थ एवं गठीले शरीर का था। उसका चेहरा लम्बा, रंग साँवला, चौड़ा माथा, सीधी नाक, आँखें व बाल काले थे। कपड़े अत्यन्त साधारण व पुराने होते हुए भी सलीकेदार तथा साफ-सुथरे हुआ करते थे। गर्मी हो या सर्दी, वह सदा कोट पहने रहता था। वह असाधारण स्मरण शक्ति का धनी व अविश्वसनीय परिश्रमी व्यक्ति था। अपने को सदा हर बुराई से दूर रखता, हर परिस्थिति में शांत एवं संयमी रहता था।"

चोमा यद्यपि स्वतन्त्र विचारों के व्यक्ति थे, परन्तु अपनी इच्छाओं, भावनाओं व लेखनी पर कुशलतापूर्वक नियंत्रण रखना भी जानते थे।

सन् 1815 के ग्रीष्मकाल में अनिवार्य सैन्य-सेवा से निवृत्त होकर तथा यात्रा-पत्र इत्यादि अन्य अनुमतियों सहित अपनी ली गई प्रतिज्ञा को न भूलने के वचन के साथ, जनवरी 1816 को उन्होंने 1500 कि.मी. की पैदल यात्रा शुरू करके 11 अप्रैल, 1816 को ग्योटिंगन विश्वविद्यालय में प्रवेश प्राप्त किया, जहाँ दो वर्षों का अतिरिक्त अध्ययन करना था। ग्योटिंगन जर्मनी के सर्वोत्तम विश्वविद्यालय में से एक था, जिसे सन् 1734 में हैनोवर के राजकुमार व इंग्लैण्ड के शासक जॉर्ज द्वितीय ने स्थापित किया था। चोमा के अध्ययन काल में यहाँ भिन्न-भिन्न देशों के सैंकड़ों छात्र विद्या अर्जित करते थे; जिनमें डेनमार्क, इंग्लैण्ड, स्वीडन, फ्राँस, स्विटज़रलैण्ड एवं अमेरिका जैसे देशों के छात्र प्रमुख थे। चोमा के लिए यहाँ की शिक्षा प्रणाली एवं आवासीय व्यवस्था विचित्र-सी थी। क्योंकि यहाँ छात्रों को छात्रावासों के कक्षों में नहीं रखा जाता था, अपितु निजी मकानों में ठहराया जाता था। अध्ययन के लिए भी कक्षाएँ विश्वविद्यालय के कक्षों में आयोजित नहीं हुआ करती थीं, बल्कि छात्रों को प्राध्यापकों के घर जाना होता था। इस प्रकार छात्रों को अपनी पढ़ाई के लिए पूरे शहर में एक स्थान से दूसरे स्थान तक भागना पड़ता था। खाली समय वे पुस्तकालय में व्यतीत करते थे, जो विश्वविद्यालय परिसर में ही हुआ करता था।

देश-विदेश के छात्रों तथा प्रबुद्ध प्राध्यापकों के सम्पर्क में आने से चोमा के संकल्प एवं सोचने-विचारने की क्षमता में और अधिक गम्भीरता आयी। छात्रों के संगठन, सभा, सम्मेलन एवं आन्दोलनों ने उन्हें बहुत प्रभावित किया। अपने पूर्वजों की जन्मभूमि की तलाश में एशिया भ्रमण की उत्कण्ठा और बढ़ गयी। अब उन्हें यह निश्चय हो चुका था कि हंगारियों का मूल निवास स्थान

निःसंदेह एशिया के किसी मंगोलीय देश में खोजा जा सकता है। यहाँ उनकी उईगुर-हंगारियन सम्बंधी परिकल्पना व विश्वास को प्रो. फियशर श्लोज़र एवं प्रये आदि के उईगुर एवं पश्चिमी तुर्कों के संभावित समागम से हंगारियों की उत्पत्ति जैसे सिद्धांतों से अधिक बल मिला। यद्यपि जे. कल्परोथ जैसे सुप्रसिद्ध प्राच्यविद् ने इस अवधारणा को चुनौती दी। इस दिशा में अध्ययन के लिए चोमा को कई प्राध्यापकों ने प्रेरित किया, परन्तु प्रो. आईहोरण ने उन्हें अधिक प्रभावित किया। वे स्वयं एक सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ थे। उन्होंने चोमा को अपनी इस समस्या के समाधान के लिए अरबी स्रोतों के अध्ययन का परामर्श दिया। चोमा ने उन्हीं से अरबी एवं तुर्की भाषा सीखी।

ग्योटिंगन विश्वविद्यालय में अपना अध्ययन समाप्त कर सन् 1818 के ग्रीष्मकाल में चोमा जर्मनी से पैदल चलकर वापिस ट्राँसिल्वानिया पहुँचे। पहुँचते ही नॉजएन्यड महाविद्यालय में अपने परम प्रिय अध्यापक प्रो. हैगेदूश से उन्होंने भेंट की। इधर चोमा के लिए दो नियुक्तियों का प्रस्ताव प्रतीक्षा में था, जिसमें से एक तो किसी सामन्त के यहाँ निजी अध्यापन का प्रस्ताव था, जबकि दूसरा वहीं किसी पाठशाला में अध्यापक की नौकरी के लिए था। चोमा ने इन दोनों नियुक्तियों को स्वीकार करने में अपनी असमर्थता व्यक्त की और साथ ही प्रो. हैगेदूश को अपने मन्तव्य से भी अवगत कराया।

हैगेदूश ने चोमा से इतनी दुरूह यात्रा पर न जाने का विफल आग्रह किया। यूँ भी इधर ऐसे कई मित्र थे जो चोमा के लक्ष्य को उनकी मनोविकृति मानते थे। परन्तु प्रो. हैगेदूश को चोमा के संकल्प, निष्ठा एवं कर्त्तव्यपरायणता का आभास था। अतः वह चोमा के निर्णय से सहमत थे। उनके अतिरिक्त प्रो. साम्युल ग्यामाती जैसे शिक्षाविद् एवं कौन्सिल मिहाई केन्देरेशी जैसे ट्राँसिल्वानिया सभ्यता एवं संस्कृति के संरक्षक लोगों के सहयोग और समर्थन ने चोमा के मनोबल को सदा ऊँचा रखा। इसी संदर्भ में वह स्लाविक भाषा के अध्ययन हेतु पैदल क्रोएशिया जा पहुँचे। केन्देरेशी ने यात्रा-व्यय हेतु उन्हें 100 स्वर्णसिक्के दिए और साथ ही यह वचन भी दिया कि मध्य एशिया से लौटने तक वे उन्हें धन भेजते रहेंगे। परन्तु ऐसा न हो सका। बीच में ही चोमा से सम्पर्क टूटने के कारण उनकी भेजी गयी धन-राशि वापिस लौट गई। उसके बाद चोमा की स्वीकृति से नॉजएन्यड में एक छात्रवृत्ति की व्यवस्था की गई, जो केन्देरेशी-चोमा छात्रवृत्ति के नाम से जानी जाती थी।

क्रोएशिया से लौटकर पुनः वे नॉएन्यड में अपने पुराने अध्यापक-मित्र हैगेदूश से विदा लेने पहुँचे। इस प्रसंग को प्रो. हैगेदूश ने बहुत ही आत्मीय

शब्दों में कुछ इस प्रकार व्यक्त किया है– "वह रविवार अपराह्न का समय था, जब चोमा मुझसे मिलने आया और कहा, 'अच्छा तो मैं कल भगवान के भरोसे जा रहा हूँ।' लम्बा समय बीतने के बाद भी मेरे स्मृति-पटल से उस आनन्दमयी सहजता की अभिव्यक्ति को समय मिटा नहीं पाया, जो उसकी आँखों में चमक रही थी। ऐसा प्रतीत होता था, जैसे अपार खुशियों की किरणें उसके सम्पूर्ण मानस में व्याप्त हो गई हों। कुछ समय हमने इधर-उधर की बातचीत में गुज़ारा, फिर विदाई-पेय के लिए हमने थोड़ी पुरानी तोकेयि का पान किया।

"दूसरे दिन सोमवार था। वह मेरे कक्ष में आया। उसने बहुत ही कम कपड़े पहन रखे थे, जैसे कि उसे केवल टहलने मात्र को जाना हो। वह बैठा भी नहीं और कहने लगा कि 'मेरी मात्र यही इच्छा थी कि एक बार पुनः आप से मिलूँ।' तब हम दोनों सैन्तकिराये के रास्ते चलते रहे जो नॉजसेबेन की ओर जाता था। यहीं इस गाँव में, खेतों के बीच हम दोनों सदा के लिए विदा हो गए । काफी लम्बे समय तक मैं उसे पतले पीले नानकिङ् के वस्त्र पहने, हाथ में छड़ी एवं पोटली लिए मारास नदी के तट तक पहुँचते हुए देखता रहा।"

इस प्रकार 28 नवम्बर, 1819 को चोमा अकेले ही अपने धैर्य, आत्मविश्वास, संचित ज्ञान तथा विभिन्न भाषाओं की विशिष्ट योग्यताओं सहित अपने लक्ष्य की अपरिचित राहों पर निकल पड़े।

चोमा का प्रारम्भिक लक्ष्य तुर्की की राजधानी कॉस्टन्टीनोपल था, परन्तु प्लेग फैलने के कारण उन्हें मार्ग को बदलना पड़ा। वहाँ से समुद्री रास्ते से रोड़ह होते हुए वह मिस्र पहुँचे। अलेक्ज़ेन्ड्रिया में अरबी स्रोतों का अध्ययन आरम्भ किया ही था कि उधर भी प्लेग फैलने के कारण उन्हें सीरिया जाना पड़ा। वहाँ से मेसोपोटेमिया और टिगरिस् नदी के सहारे वे इराक की राजधानी बगदाद पहुँचे। शहर के एक कारवाँ के साथ वे अक्तूबर, 1820 में एक वर्ष की यात्रा पूरी करके ईरान की राजधानी तेहरान पहुँचे। परन्तु अब भी चोमा का लक्ष्य निकट नहीं था। क्योंकि चोमा को विश्वास था कि हंगारियों की जन्म-भूमि छोटा या बड़ा बोखारिया का क्षेत्र है। संभवतः यहीं से उनके पूर्वज विभिन्न कालों में, भिन्न-भिन्न वंशों के रूप में, एशिया में आए संकटों से बाध्य होकर सीरिया, असीरिया, अरमेनिया, जार्जिया एवं रूस होते हुए यूरोप जा पहुँचे थे। छोटा एवं बड़ा बोखारिया से चोमा का तात्पर्य उईगुर से था, जो पश्चिमी तुर्कीस्तान (बोखारा) एवं उसके आसपास के क्षेत्र, पूर्वी तुर्कीस्तान (तरिम) तथा शिनचियङ् का क्षेत्र है। तेहरान पहुँचते ही चोमा

आर्थिक संकट में पड़ गये। वहाँ उन्हें कोई यूरोप का व्यक्ति नहीं मिला। अतः ब्रिटिश दूतावास के दो अधिकारी सर हेनरी एवं जॉर्ज विल्लौक (जो मद्रास कवेलरी के अधिकारी थे) से सम्पर्क हुआ। उन्होंने चोमा को पैसे, कपड़े, पुस्तकें एवं संरक्षण प्रदान किया। चोमा चार महीने तक विल्लौक बन्धुओं के आतिथ्य में रहे। तत्पश्चात् विश्वविद्यालय के अपने महत्त्वपूर्ण प्रमाण-पत्र, पार-पत्र इत्यादि उनके हवाले छोड़कर, मार्च 1821 को सिकन्दर बेग के नाम से स्थानीय वस्त्र धारण करके मंगोलिया की ओर अग्रसर हुए। पहाड़ एवं रेगिस्तान पार करके चोमा बोखारा पहुँचे, परन्तु वहाँ से आगे नहीं जा पाए। उधर रूसी सैनिकों के आने का समाचार और युद्ध की संभावना थी। इसीलिए दक्षिण की ओर सेबलख, कुल्म और बनियान होते हुए 6 जनवरी, 1822 को वह काबुल पहुँचे।

काबुल चोमा के लिए विशेष महत्त्व का स्थान नहीं था। अतः 19 जनवरी को पेशावर की ओर चलते हुए 26 जनवरी को ढक्का नामक गाँव में उनकी भेंट फ्रॉंस के दो महानुभावों उलारड़ एवं बैन्तुरा से हुई जो पंजाब के महाराणा रंजीत सिंह के सेनापति थे और वे लाहौर जा रहे थे। यह समय लद्दाख की यात्रा के लिए उचित नहीं था; इसलिए लाहौर की ओर प्रस्थान किया। कुछ समय लाहौर में व्यतीत करने के पश्चात् पुनः वहाँ से अमृतसर, जम्मू, बनिहाल, कश्मीर होते हुए 9 जून, 1822 को लद्दाख के प्रमुख नगर एवं राजधानी लेह पहुँचे। लेह से यारकन्द का रास्ता खतरों से खाली नहीं था। 25 दिनों तक लेह में यारकन्द जानेवाले सहयात्रियों की प्रतीक्षा के पश्चात् निराश होकर पुनः वापिस लाहौर में अपने फ्रॉंसिसी मित्रों के पास लौटने का निश्चय किया। ऐसा निर्णय चोमा ने क्यों लिया, यह कहना कठिन है, क्योंकि उनका लक्ष्य तो यारकन्द था। जबकि वापिस लाहौर लौटने का तात्पर्य था समय एवं लक्ष्य की विपरीत दिशा में जाना। इधर विल्लौक बन्धुओं से चोमा का सम्पर्क टूट गया। हंगरी के लोग चोमा के बारे में उन्हीं से पूछते थे। चोमा के लिए एकत्रित की गई धनराशि भी उन्हीं के पास आयी थी। लेकिन चोमा के ठौर-ठिकाने का कहीं कुछ पता न था। वह एक विचित्र-सी बात थी कि चोमा ने विल्लौक बन्धुओं से सम्पर्क क्यों नहीं बनाए रखा। संभवतः चोमा अपने आपको गुमनाम रखना चाहते थे।

लाहौर की ओर चलते हुए लगभग दो सप्ताह हुए होंगे कि दरास उपत्यका में हिमबबस् नदी के तट पर स्थित दरास गाँव में 16 जुलाई, 1822 को चोमा की मुलाकात विलियम मूरक्राफ्ट से हुई। यह एक ऐसा सुखद

संयोग था जिसने चोमा के व्यक्तित्व, कर्तव्यनिष्ठा एवं बौद्धिक क्षमता को नया आयाम दिया। इस भेंट से चोमा के लक्ष्य में आमूल परिवर्तन आया। मूरक्राफ्ट की मंत्रणा पर तिब्बती साहित्यिक स्रोतों में अपने पूर्वजों का प्रसंग खोजना अब उनका प्रथम ध्येय था। फलतः चोमा हिमालयी बौद्ध संस्कृति एवं सभ्यता के पश्चिमी अग्रदूत बने। मूरक्राफ्ट ईस्ट इण्डिया कम्पनी के पशु–चिकित्सक के साथ ही कम्पनी की घुड़साल के अधीक्षक भी थे। वे भारत में ब्रिटिश सरकार के राजनैतिक पर्यवेक्षक भी थे। उनका कार्य आसपास के स्वशासी राज्यों को ब्रिटिश साम्राज्य में शामिल कराने की कूटनीति तैयार करना था। इस समय वे अपने बहु उद्देशीय मिशन पर थे।

ईस्ट इंडिया कम्पनी के लिए अरब के महंगे घोड़ों की तुलना में यहाँ के सस्ते एवं अच्छी प्रजाति के घोड़ों की खोज में अपने भाई तर्बेक (जो मानव-चिकित्सक थे) के साथ वह बोखारा पहुँचने के लिए प्रयत्नरत थे। गैरी आलड्र लिखते हैं– *"मूरक्राफ्ट को अपनी अगली यात्रा (बोखारा) के लिए, यारकन्द स्थित चीनी अधिकारियों के आज्ञा-पत्र हेतु (जिसे वह प्राप्त नहीं कर सके) लगभग एक महीना दरास के समीपवर्ती क्षेत्र में रहना पड़ा। यहीं 16 जुलाई, 1822 को मूरक्राफ्ट की भेंट हंगरी के संत यात्री अलेक्ज़ेंडर चोमा दी कोरोस से हुई। चोमा स्वयं भी यही चाहता था कि मूरक्राफ्ट एवं उनके सहयोगी काराकोरम पार करके यारकन्द पहुँचें। चोमा के लिए यह भेंट एक सार्थक संयोग ही थी, जिसने उनके जीवन के प्रयोजन को एक नयी दिशा दी। यद्यपि मूरक्राफ्ट एवं चोमा के व्यक्तित्व में ज़मीन-आसमान का अन्तर था, तथापि दोनों महापुरुषों ने तिब्बती सभ्यता एवं संस्कृति के गूढ़ रहस्योद्‌घाटन के अपने समान-लक्ष्य का निष्ठापूर्वक निर्वाह किया। इस प्रकार अगले पाँच महीने दोनों ने साथ-साथ यात्राएँ कीं। अब वे घनिष्ठ मित्र थे। अकेले यात्रा करनेवाले चोमा को अब एक नया कल्याण-मित्र मिला, जिससे उन्हें खान-पान एवं सुरक्षा का लाभ हुआ। साथ ही मूरक्राफ्ट ने कोरोशी चोमा को तिब्बती भाषा-विज्ञान पर शोध करने के लिए प्रोत्साहित ही नहीं किया, अपितु वित्तीय सहायता भी दी। उन्हें लद्दाख के चर्चित लामाओं एवं बौद्ध विहार के पुस्तकालयों के विषय में बताया। चोमा स्वयं एक भाषाविद् थे। उन्होंने मूरक्राफ्ट के लिए उस रूसी भाषा में लिखे पत्र का लैटिन भाषा में अनुवाद किया जिसे आगा मेंहदी महाराजा रणजीतसिंह के लिए ले जा रहा था। उसे तुरन्त कलकत्ता भेज दिया ताकि वह पत्र रणजीतसिंह के गुप्तचरों के हाथ न लगे। परन्तु विडम्बना यह रही कि कलकत्ता में चोमा पर ही गुप्तचर होने*

का संदेह किया गया।"

अब चोमा ने लाहौर जाने का अपना कार्यक्रम छोड़ दिया। वे मूरक्राफ्ट के साथ 26 अगस्त को वापिस लेह लौट आये। चोमा ने मूरक्राफ्ट के परामर्श से तिब्बती स्रोतों में हंगारियों की उत्पत्ति की खोज करने का संकल्प लिया। क्योंकि आठवीं-नवीं शताब्दी में मध्य एशिया का यह संभावित क्षेत्र तिब्बती राजाओं के अधीन रहा था, विशेषतः मंगोलिया के। अब चोमा को सर्वप्रथम भाषा पर अधिकार प्राप्त करना था। इसके लिए मूरक्राफ्ट ने चोमा को सन् 1762 में रोमन कैथलिक फादर गिओर्गी द्वारा सम्पादित लेटिन भाषा की वह पुस्तक भी दी, जो 900 पृष्ठों की थी। इस पुस्तक की विशेषता यह थी कि वह एक भारी-भरकम ही नहीं, अपितु विषयवस्तु की दृष्टि से भी विशेष उपयोगी थी, जिसे साधारणतः लोग 'उल्फाबेटम तिबेतनम' के नाम से जानते हैं। फादर गिओर्गी न तो स्वयं कभी तिब्बत गए और न ही कभी किसी तिब्बती समूह से उनका सम्पर्क रहा था। तिब्बती सभ्यता एवं संस्कृति के प्रति झलकती उनकी अज्ञानता का संभवतः यही एक मात्र कारण रहा होगा। कुछ भी हो उस समय तिब्बत के विषय में लिखित सामग्री के नाम पर केवल यही पुस्तक थी।

अतः चोमा से यह भी आग्रह किया गया कि वे स्वयं एक अच्छे तिब्बती-अंग्रेज़ी शब्द-कोश की रचना करें। सितम्बर के अन्त में मूरक्राफ्ट वापिस कश्मीर लौट गये। चोमा एवं डॉ. तर्बेक लेह में ही रुके रहे। इस मध्य डॉ. तर्बेक ने चोमा के तिब्बती भाषा के अभ्यास हेतु एक ऐसे लद्दाखी लामा की खोज की जो फारसी भी जानते थे। चोमा ने तुरन्त उनके साथ तिब्बती भाषा के अपने सीमित ज्ञानानुसार बातचीत आरम्भ की। इस दिशा में हुई प्रगति से तर्बेक और चोमा दोनों आश्वस्त थे।

अक्तूबर के अन्त में चोमा अपने साथी तर्बेक तथा मीर इज्जत उल्लाह के साथ वापिस श्रीनगर आए और वहाँ पर मूरक्राफ्ट से तिब्बती भाषा के अपने अध्ययन में हुई प्रगति की चर्चा सीधी सरल तिब्बती भाषा में की। मूरक्राफ्ट को आश्चर्यजनक प्रसन्नता हुई। चोमा भी अपनी योग्यता के सम्मान से अतिप्रसन्न थे। लगभग छह महीने तक चोमा मूरक्राफ्ट के साथ रहे। इस बीच यह निश्चित हुआ कि चोमा को तिब्बती साहित्य के गहन अध्ययन हेतु लद्दाख लौट जाना है। मूरक्राफ्ट ने चोमा के लिए आवश्यक धन, सामग्री एवं परिचय-पत्रों की व्यवस्था की। मीर इज़्ज़त उल्लाह लद्दाख के शासक से परिचित थे, उन्होंने राजा के प्रधान मंत्री (कालोन) के नाम पत्र

लिखकर चोमा की पढ़ाई एवं सुरक्षा की सिफारिश की। इस विषय में चोमा व मूरक्राफ्ट के बीच एक औपचारिक समझौता भी हुआ, जिसकी सूचना मूरक्राफ्ट ने कलकत्ता में ब्रिटिश सरकार को दी थी। इसी समझौते के अधीन चोमा ने वचन दिया कि 'अपनी शक्ति एवं सामर्थ्य के अनुसार वह सुसंस्कृत-जन की सेवा करेगा।' इसी समझौते के अनुसार संभवतः चोमा को अपने अनुसंधान तथा उसके परिणाम के वारे ब्रिटिश सरकार को सूचित करना था, ताकि वहाँ के 'सुसंस्कृत जन' इसका लाभ उठा सकें। साथ ही एशियाटिक सोसायटी बंगाल से भी आग्रह किया गया कि वे चोमा की आवश्यकताओं को ध्यान में रखें। इसके अतिरिक्त मूरक्राफ्ट ने चोमा को अपनी आकस्मिक मृत्यु की अवस्था में सम्पर्क हेतु कैप्टन कनैडी (जो सपाटू में स्थित थे) के नाम परिचय-पत्र भी दिया, जो वाद में बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। इन पत्रों की पूँजी लिए चोमा ने अपने कल्याण-मित्र विलियम मूरक्राफ्ट से 2 मार्च, 1823 को लद्दाख के लिए विदाई ली। तत्पश्चात् वे पुनः कभी नहीं मिल सके।

अलेक्ज़ेंडर चोमा दी कोरोस, पहली जून, 1823 को पुनः तीसरी वार लेह पहुँचे। मूरक्राफ्ट एवं मीर इज़्ज़त उल्लाह के पत्र लद्दाख के कालोन (प्रधान मंत्री) को प्रस्तुत किये। कालोन ने सहर्ष स्वीकार करते हुए कुछ आवश्यक वस्तुओं सहित एक परिचय-पत्र जंगस्कर के जंगला गोन्पा के प्रमुख लामा के नाम चोमा को सौंपा। चोमा तुरन्त अपने नये पड़ाव की ओर चल पड़े। 26 जून, 1823 को उन्होंने जंगला पहुँचकर अपना परिचय-पत्र अपने भावी गुरु संझे फुनचोक के सम्मुख प्रस्तुत किया। लामा संझे फुनचोक के विषय में बार्नाड ली कालोश लिखते हैं कि, *"संझे फुनचोक एक बहुत ही दिलचस्प एवं असाधारण व्यक्ति थे। यह दुःख की बात है कि आज तक किसी ने भी उनकी जीवनी लिखने का प्रयास नहीं किया। सच वात तो यह है कि संझे फुनचोक ने अपने विषय में कुछ नहीं लिखा और चोमा, जिसने 1823 से 1830 तक लगभग 7 वर्ष उनके साथ व्यतीत किये वे भी कुछ विस्तृत विवरण नहीं दे पाए हैं।"*

उनके अनुसार लामा संझे फुनचोक का जन्म जंगस्कर की राजधानी पदुम में संभवतः 1773 ई. में हुआ था। वे एक सम्पन्न परिवार से थे तथा उस परिवार में दूसरे पुत्र थे, जिनकी प्रारम्भिक शिक्षा स्थानीय जोङ् खुल गोन्पा में हुई थी। तत्पश्चात् उन्होंने तिब्बत के टाशील्हुन्पो गोन्पा एवं ल्हासा के चकपोरी चिकित्सा संस्थान से अपनी उच्च शिक्षा प्राप्त की। लद्दाख लौटने

से पूर्व वे भूटान, सिक्किम, नेपाल एवं शेष भारत का भ्रमण कर चुके थे। वे केवल सुसंस्कृत एवं सुशिक्षित ही नहीं, अपितु अच्छे पर्यटक भी थे। बौद्धदर्शन, चिकित्सा-शास्त्र, ज्योतिष-शास्त्र हेतु विद्या एवं साहित्य जैसे हर विषय में प्रवीण थे। लद्दाख लौटने पर वे वहाँ की राजनीति से प्रभावित हुए। उन्होंने जंगला के स्थानीय राजा की विधवा से विवाह कर लिया, जो सिद्धांततः एक गेलुकपा लामा के लिए शोभनीय नहीं था। परन्तु लाभ यह हुआ कि वे पूरे लद्दाख के प्रधान चिकित्सक एवं 'राजनयिक सम्बन्ध' के सरकारी सचिव नियुक्त किए गए। यद्यपि लद्दाखी जन-जीवन में वे बहुत महत्त्वपूर्ण व्यक्ति थे, परन्तु उनका व्यक्तिगत जीवन बहुत ही सरल था। कालोन द्वारा चोमा को संझे फुनचोक के पास भेजने के तीन प्रमुख कारण हो सकते हैं। प्रथम, संझे फुनचोक कालोन के व्यक्तिगत मित्र थे और दोनों ब्रिटिश समर्थक थे। दूसरा, संझे फुनचोक निःसंदेह एक ऐसे बुद्धिमान एवं सुशिक्षित व्यक्ति थे जो एक विदेशी छात्र को तिब्बती भाषा एवं सभ्यता के विषय पढ़ा सकते थे। तीसरा, संझे फुनचोक एक विश्वसनीय, धैर्यवान, परिश्रमी एवं चतुर व्यक्ति थे।

कोरोशी चोमा ने लामा संझे फुनचोक के सहयोग से तिब्बती भाषा के व्याकरण का अध्ययन किया तथा इस भाषा में लिखित सैंकड़ों खण्डों में विभक्त विशाल बौद्ध-साहित्य से वे परिचित हुए। यह साहित्य मूलतः संस्कृत भाषा से तिब्बती भाषा में अनूदित था। जंगला में ठहरने की व्यवस्था चोमा के अनुकूल नहीं थी। उस छोटे से कक्ष में आग नहीं जला सकते थे, क्योंकि धुएँ के कारण अध्ययन में विघ्न पड़ता था। अतः जंगस्कर की कड़ाके की सर्दी में ठिठुरते हुए, नमकीन चाय एवं सत्तू (चमपा) का भोजन करते हुए अपना निर्वाह करते थे। उन्होंने कंग्युर एवं तंग्युर में समाहित हज़ारों ग्रन्थों की विषयवस्तु से अपने आप को अवगत कराया।

चोमा इस शिक्षा पद्धति से सम्बंधित हर विद्या से परिचित होना चाहते थे। ताकि कहीं न कहीं उन्हें अपनी मग्यार (हंगारी) जाति के मूल स्थान का सुराग मिल सके। इसलिए इतिहास, कला, धर्म, भाषा, व्याकरण इत्यादि सभी विषयों के बारे में जानने के लिए वह सदा तत्पर रहते और प्रश्न किया करते। लामा संझे फुनचोक के लिए अकेला इतना कुछ अनुवाद, प्रश्नों के उत्तर तथा शब्दों की सूची तैयार कर पाना कठिन था। इसलिए अपने मित्र जोङ्-खुल गोन्पा के उपाध्याय कुँगा छोईलेक तथा सुप्रसिद्ध गेशे, छुलठिम ज्ञाछों, जो त्रिपिटक एवं चतुष्तन्त्र के विशेषज्ञ थे, उनका सहयोग लिया। सन् 1824 में तीनों ने चोमा के विभिन्न प्रश्नों के उत्तर में तीन पुस्तकें लिखीं, जो

'अलेक्ज़ेंडर ग्रन्थ' के नाम से प्रसिद्ध हुई। गेशे छुलठिम ज्ञाछों ने 'रूपमा (रोमन, जिसका तात्पर्य यूरोपियन था) स्कन्दर बेग' के बौद्ध धर्म हेतु विद्या, शब्द-विद्या एवं दर्शन से सम्बंधित 20 प्रश्नों के उत्तर में 'एक जहाज का ज्ञान सागर में प्रवेश' नामक ग्रन्थ की भोट भाषा में रचना की। कुँगा छोईलेक ने ब्रह्माण्ड शास्त्र, बुद्ध चरित्र, त्रिरत्न एवं बोधि मार्ग क्रम (जंगछुब लमरिम) से सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर में 'यूरोपीय स्केन्धा के प्रश्न एवं उत्तर' नामक ग्रन्थ की रचना जोंखुल की प्रसिद्ध गुफा में की। कहा जाता है कि इसी गुफा में 11वीं शताब्दी के महासिद्ध नारोपा ने वर्षों तपस्या की थी। स्वयं संझे फुनचोक ने 'अलेक्ज़ेंडर ग्रन्थ' की रचना की, जिसमें ज्योतिष शास्त्र, भाषा विज्ञान, काव्य, व्याकरण गणना एवं चिकित्सा शास्त्र की पद्धति सम्मिलित है, जो आज भी हिमालयी जन-जीवन का एक अभिन्न अंग है। इस प्रकार, एक वर्ष के अथक प्रयास से प्राप्त जो परिणाम चोमा के सामने थे, वह उससे भी अधिक करना चाहते थे। परन्तु जंगला की जलवायु व सीमित सुविधाएँ संतोषजनक नहीं थीं। फिर समयानुसार सरकार को भी अपने अनुसंधान की प्रगति दिखानी थी।

लामा संझे फुनचोक से विचार-विमर्श करके यह निश्चित किया गया कि वे 1824-25 का शीतकाल कुल्लू क्षेत्र के सुल्तानपुर नामक गाँव में व्यतीत करेंगे। लामा संझे फुनचोक भी चाहते थे कि अपने लाहुली सम्बंधियों से वहीं भेंट की जाए तथा वहीं पर जंगला में संकलित सामग्रियों का वर्गीकरण करके तिब्बती-अंग्रेज़ी शब्दकोश तैयार करने का मुख्य कार्य आरम्भ किया जाए। लामा संझे फुनचोक के इस आश्वासन के साथ कि वे शीघ्र ही कुल्लू पहुँचेंगे, चोमा अकेले ही अक्तूबर 1824 में जंगस्कर के जंगला गोन्पा से कुल्लू पहुँचे। परन्तु लामा का आगमन नहीं हुआ। अब नवम्बर का महीना था, उनके आने की संभावना भी नहीं थी। क्योंकि इधर आने के सारे मार्ग भारी हिमपात के कारण बन्द हो चुके थे। अतः निराश होकर यह तय किया कि सपाटू जाकर कैप्टन कैनेडी से सहायता ली जाए।

मूरक्राफ्ट का दिया परिचय-पत्र लिए कुल्लू (सुल्तानपुर) से मण्डी-सुकेत, बिलासपुर होते हुए 26 नवम्बर को चोमा थके-हारे सपाटू पहुँचे। वहाँ उन दिनों ब्रिटिश सैनिक छावनी थी। यह स्थान कालका के आस-पास की पहाड़ियों में स्थित है। चोमा जब अपनी एकत्रित सामग्री एवं भारी-भरकम पाण्डुलिपियों को लेकर सपाटू पहुँचे तो उनका स्वागत वैसा नहीं हुआ जैसी उन्हें आशा थी। मूरक्राफ्ट के परिचय-पत्र, जिसमें वर्णित नाम, प्रयोजन तथा

सरकार को दिए गए संस्तुति-पत्र की चर्चा थी, के बावजूद चोमा पर विदेशी गुप्तचर होने का संदेह किया गया। कैप्टन कैनेडी ने तुरन्त अम्बाला में अपने वरिष्ठ अधिकारियों को सूचित किया कि 'एक यूरोपीय व्यक्ति जो अपना नाम अलेक्ज़ेंडर चोमा दी कोरोस एवं हंगरी का निवासी बताता है, इस पोस्ट पर पहुँचा है, उसके साथ क्या किया जाए, इसका निर्देश दिया जाए।' वहाँ से उत्तर आया कि 'जब तक दिल्ली में गवर्नर जनरल के यहाँ से कोई निर्देश प्राप्त नहीं होता, तब तक उन्हें वहीं रोके रखिए।'

संभवतः कैप्टन कैनेडी के उच्चाधिकारियों को मूरक्राफ्ट एवं चोमा के बीच हुए समझौते की पूर्व जानकारी थी, फिर भी ब्रिटिश सरकार के 24 दिसम्बर, 1824 के पत्र अनुसार 'पहचान के प्रयोजन हेतु' चोमा से अनुरोध किया गया कि वे अपने विषय में विस्तृत विवरण दें। चोमा जैसे स्वाभिमानी एवं निष्ठावान व्यक्ति के लिए यह सब क्षोभ तथा अपमान का विषय था। परन्तु अवसर की माँग थी कि सहा जाए। विरोध करने का उचित समय भी नहीं था। पर बाद में जब कभी भी समय या प्रसंग आता वे अपने इस अपमान की चर्चा करना कभी नहीं चूकते। उपरोक्त पत्र के उत्तर में 28 जनवरी, 1825 को चोमा ने कैप्टन सी.पी. कैनेडी (सपाटू में सहायक राजनैतिक एजेन्ट) को सम्बोधित करते हुए अपने जन्म से लेकर अब तक का पूरा वृत्तान्त एक प्रतिवेदन में प्रस्तुत किया। इसे यदि चोमा की आत्मकथा कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। सरकार द्वारा चोमा से लिखित परिचय माँगना चोमा के लिए निःसंदेह आपत्तिजनक एवं अपमान का विषय था। परन्तु कालान्तर में चोमा-प्रेमियों को उनकी जीवनी से सम्बंधित अधिकारिक सूचनाओं से लाभान्वित होने का संयोग एवं सुअवसर इसी से बना।

25 मार्च, 1825 को भारत की ब्रिटिश सरकार ने चोमा को अपना अध्ययन एवं अनुसंधान जारी रखने की अनुमति के साथ 50 रुपये प्रति मास की अनुदान राशि भी स्वीकृत की। साथ ही एशियाटिक सोसायटी बंगाल को निर्देश दिया कि वह चोमा को आगामी कार्यक्रम के लिए निर्दिष्ट करें तथा उन्हें अपना कर्मचारी समझें। सपाटू में महीनों की प्रतीक्षा के दौरान चोमा के कार्य में विशेष प्रगति नहीं हुई। अब इन परिस्थितियों में वे पुनः अपना कार्य संज्ञे फुनचोक के सहयोग से शुरू करना चाहते थे।

इस बीच कैप्टन कैनेडी एवं डॉ. जेरार्ड से चोमा की अच्छी मित्रता हो गई। वे चोमा की विद्वता, उनकी अपने लक्ष्य के प्रति दिन-रात की सजगता एवं हिमालयी बौद्ध धर्म व संस्कृति को गहराई से जानने की जिज्ञासा से

बहुत प्रभावित थे। कैप्टन कैनेडी ने अपनी सीमित जानकारी के अनुसार चोमा से कहा कि बुशहर के ऊपरी भाग में कुछ गाँव ऐसे हैं जहाँ तिब्बती भाषा बोली जाती है तथा बौद्ध विहार भी हैं। डॉ. जेरार्ड ने राजा बुशहर के किसी अधिकारी के नाम पत्र दिया, जिसमें चोमा के लिए जंगस्कर तक के लिए तीन कुलियों की व्यवस्था करने का आग्रह था। सपाटू के अधिकारियों का सहयोग एवं आवश्यक परिचय-पत्र लेकर चोमा शिमला, नारकण्डा एवं कोटगढ़ होते हुए बुशहर रियासत की राजधानी सराहन पहुँचे। वहाँ से उन्हें केवल एक ही व्यक्ति प्राप्त हो पाया। राजा के उस अधिकारी ने कानम गाँव के श्री बसन्त राम के नाम एक पत्र दिया।

अब चोमा हिन्दुस्तान-तिब्बत मार्ग के रास्ते शिमला से 172 मील तय करके कानम पहुँचे। परन्तु वहाँ बसन्त राम से भेंट नहीं हो पाई। क्योंकि वे किसी कार्यवश नाको गाँव गए हुए थे। यह कानम गाँव वर्तमान किन्नौर ज़िला के प्राचीन एवं बड़े गाँवों में से एक है। चोमा ने कैप्टन कैनेडी से प्राप्त सूचना के अनुसार यहाँ के कंग्युर एवं तंग्युर के संग्रह को देखा, जो बेली राम के दादा पश्चिमी तिब्बत के महानगर ज़िगाचे के टाशील्हुन्पो बौद्ध महाविहार से लाए थे। परन्तु उन्हें यहाँ कोई ऐसा व्यक्ति नहीं मिला जो लामा संझे फुनचोक का स्थान ले सके। कोरोशी चोमा लिखते हैं, *"कानम व सुन्नम के धार्मिक लोग आधे हिन्दू हैं। वे तिब्बतयों को इसलिए नापसंद करते हैं, क्योंकि वे गो माँस खाते हैं। साधारणतः ये लोग बहुत अज्ञानी हैं और तिब्बती भाषा ठीक से बोल भी नहीं पाते हैं।"*

कानम से चोमा सुन्नम होते हुए नाको पहुँचे और बसन्त राम से भेंट की। वहाँ बसन्त राम ने स्पीति के किलेदार (खरपोन) से चोमा की आगे की यात्रा के लिए आवश्यक कुलियों की व्यवस्था करने का आग्रह किया, जो निरर्थक रहा। वह स्वयं भी चोमा को कुलियों की सहायता दिला पाने में असमर्थ रहा। परन्तु चोमा के व्यक्तिगत अनुरोध पर इतना अवश्य किया कि हाँगों गाँव के पद्मा नामक एक बूढ़े व्यक्ति को चोमा के साथ जंग़स्कर तक जाने के लिए राजी किया। इस प्रकार चोमा स्पीति होते हुए लामा संझे फुनच़ोक की तलाश में 12 अगस्त, 1825 को उनके गाँव जंगस्कर में पहुँच गए। परन्तु फुनच़ोक वहाँ नहीं थे। लम्बी प्रतीक्षा के पश्चात् 26 सितम्बर, 1825 को लामा संझे फुनच़ोक से भेंट हुई। चोमा ने अपने पूर्व नियोजित कार्यक्रम को शीघ्रातिशीघ्र आरम्भ कराने का अनुरोध किया। संझे फुनच़ोक राजी हो गए और दोनों एक बार फिर अपने अध्ययन के कार्य में जुट गए। फुगलत के खूबसूरत गोन्पा के

एक छोटे से कमरे में दोनों गुरु-शिष्य नवम्बर, 1825 से लेकर नवम्बर, 1826 तक अपने सुनियोजित कार्य में व्यस्त रहे, पर लामा संझे फुनचो़क पहले जैसी तत्परता से पढ़ा नहीं पाये।

चोमा अपने वचनानुसार नवम्बर में सपाटू नहीं पहुँच पाए और लामा संझे फुनचो़क चोमा के साथ आने को तैयार नहीं हुए। अपनी अपूर्ण पाण्डुलिपियों तथा तिब्बती-अंग्रेज़ी शब्दकोश की एकत्रित सामग्री सहित जनवरी, 1827 को स्पीति व किन्नौर होते हुए चोमा पुनः सपाटू पहुँचे। उन्होंने अपनी सारी परिस्थितियों से कैप्टन कैनेडी को अवगत कराया। चोमा निराश थे और लामा संझे फुनचो़क के प्रति अप्रसन्न भी। कार्य की विशिष्ट महत्ता तथा तिब्बती भाषा की जानकारी रखनेवाले सहयोगी के अभाव में, सरकार एवं अपने मित्रों को दी गई निर्धारित अवधि में सारे कार्य को सम्पन्न करके सौंप पाने में चोमा असमर्थता महसूस कर रहे थे। इस बीच चोमा के लिए यह भी विशेष सुखद समाचार नहीं था कि सीरमपुर के मिशनरी संस्थान ने तिब्बती-अंग्रेज़ी का शब्दकोश प्रकाशित कर लिया है। वैसे तो चोमा ने किसी एक लेख में प्रकाशित इसके नौ तिब्बती शब्दों में से पाँच को अशुद्ध ठहरा दिया था। इसके साथ ही कल्परोथ एवं रेमुसत द्वारा तिब्बती भाषा एवं संस्कृति पर किए गए कार्यों को भी पूरी तरह त्रुटिपूर्ण घोषित कर दिया था।

सभी विपरीत परिस्थितियों के बावजूद चोमा के प्रयास के फलस्वरूप 14 जून, 1827 को तत्कालीन ब्रिटिश सरकार के सचिव मि. स्टर्लिंग ने गवर्नर जनरल एमहर्स्ट द्वारा चोमा को अपनी इच्छानुसार कानम में जाकर पुनः तीन वर्षों में अपने अनुसंधान-कार्य को सम्पन्न करने के लिए अनुमति एवं पूर्ववत् 50 रुपये प्रतिमास की अनुदान राशि की स्वीकृति की सूचना दे दी थी। तदनुसार चोमा अगस्त, 1827 को सपाटू से कानम की ओर चल पड़े। इस बीच संभवतः चोमा के मित्रों ने भारत की ब्रिटिश सरकार से आग्रह किया हो कि वे लद्दाख की सरकार पर दबाव डालें कि वे संझे फुनचो़क को चोमा के कार्य में सहयोग के लिए उपलब्ध कराये। इधर लद्दाख की तत्कालीन राजनैतिक परिस्थिति ऐसी नहीं थी कि वे इस दबाव की अवहेलना कर सकते। फलतः कुछ ही दिनों में संझे फुनचो़क कानम के ल्हुन्डुब गेफेल (खाचे ल्हाखङ) गोन्पा में उपस्थित हुए। कानम में उनका व्यवहार लद्दाख जैसा नहीं था। अब वे परिवर्तित लगते थे। हो सकता है इस बीच उनके व्यक्तिगत जीवन में या लद्दाख की राजनैतिक स्थिति में कुछ अप्रिय घटित हुआ हो। बात कुछ भी रही हो, लामा संझे फुनचो़क ने चोमा को उसी लगन एवं धैर्य

के साथ पढ़ाया जैसे पहली बार जंगला में पढ़ाया करते थे।

कानम के शान्त वातावरण में उनका हर कार्यक्रम सुचारू रूप से चलने लगा। उनके रहने की व्यवस्था ल्हुन्डुब गेफेल गोन्पा (जिसे लोग खाचे ल्हाखङ् के नाम से जानते हैं) में की गई। अपनी अध्ययन सामग्री के लिए वे गाँव के बीच स्थित कंग्युर ल्हखङ् पर आश्रित थे। उनके तिब्बती व्याकरण एवं तिब्बती-अंग्रज़ी शब्दकोश के काम में संतोषजनक प्रगति हो रही थी कि एक वर्ष के बाद लामा संङ्गे फुनचोक को किसी कार्यवश कानम से बाहर जाना पड़ा। लेकिन वे जल्दी ही लौट आए। इसी कानम प्रवास के दौरान सन् 1828-29 में चोमा के मित्र डॉ. जेम्स जी. जेराई (जो व्यवसाय से चिकित्सक एवं अन्वेषक थे) चोमा से मिलने कानम पहुँचे। वहाँ उनकी दयनीय दशा की विस्तृत जानकारी दिल्ली में गवर्नर जनरल के प्रतिनिधि मि. डब्ल्यू फ्रेज़र को अपनी 21 जनवरी, 1829 की रिपोर्ट में दी।

फ्रेज़र ने चोमा की उपलब्धियों और उनकी कठिनाइयों को एक अच्छे मित्र के नाते जितना संभव हो सकता था, उजागर किया। परन्तु हमें इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि चोमा स्वभावतः इस प्रकार का विपन्नतापूर्ण जीवन व्यतीत करने के अभ्यस्त थे। वे कम से कम सुविधाओं में अधिक से अधिक प्रभावशाली काम करने में विश्वास रखते थे। कठिनाइयाँ उनके जीवन का अंग थीं। अन्यथा उस युग में जिस व्यक्ति की सहायता एवं सहयोग के लिए पूरी ब्रिटिश सरकार के उच्च अधिकारी एवं प्रबुद्ध जन तत्पर हों तथा जिसे उस समय 50 रुपये प्रतिमास की छात्रवृत्ति मिलती हो, उसकी दुर्दशा कैसे सम्भव हो सकती है? पुनश्च, उस ज़माने के एक आम व्यक्ति ने अपने पूरे जीवन-काल में कदापि ही एक साथ 50 रुपये का दर्शन पाया होगा। इसके अतिरिक्त स्थानीय लोगों की शक्ति एवं आस्था का केन्द्र ल्हाखङ् गोन्पा जिसके अतिथि-सत्कार के लिए उपस्थित हो, वह व्यक्ति भला कैसे दयनीय एवं असहाय स्थिति में हो सकता था?

जेराई की संवेदनशील रिपोर्ट को पढ़ कर लोगों के हृदय में चोमा के प्रति सहानुभूति और उनके कार्यों को जानने और पढ़ने की उत्सुकता जागृत होना स्वाभाविक था। जेराई की रिपोर्ट का यह एक सकारात्मक प्रभाव था। अब चोमा और लामा संङ्गे फुनचोक की तीन वर्षों की तपस्या का परिणाम उनके सामने तैयार था, जो अपने पूर्वानुमान से कहीं अधिक संतोषजनक था। वे बहुत प्रसन्न थे। उनका शब्दकोश, व्याकरण, बौद्ध शब्दावली सहित अन्य विषयों पर तैयार की गई पाण्डुलिपियाँ प्रकाशन के लिए तैयार थीं। इसी

बीच जुलाई, 1830 में फ्राँस के प्रकृतिवेत्ता विक्टर जैकमाउंट कानम पहुँचे और चोमा से भेंट की। परन्तु लामा संझे फुनचोक से नहीं मिल पाए, क्योंकि वे अपना काम पूरा करके 30 जून को जंगस्कर लौट चुके थे। लामा संझे फुनचोक के बारे में लगभग यही अन्तिम सूचना थी। कई वर्षों की शारीरिक एवं मानसिक परेशानियों से विमुक्त होकर चोमा भी 30 नवम्बर, 1830 को अपनी संचित पूँजियों सहित कानम छोड़कर सपाटू की ओर चल दिये।

इस प्रकार चोमा हिमालय की कन्दराओं में अर्जित अमूल्य निधि को सागर के किनारे लाकर सम्पूर्ण विश्व के सुसंस्कृत मानव जगत् को उपलब्ध कराने हेतु निकल पड़े। यही चोमा की वह कुंजी थी, जिससे वह साहित्य जगत् के 'अपरिचित क्षेत्र '(Rerraincognita) के कपाट खोल सकते थे। और आगे चलकर ऐसा ही हुआ। सपाटू पहुँचते ही पता चला कि कलकत्ता में उनकी पुस्तकों के प्रकाशन हेतु प्रतीक्षा हो रही है। अतः वर्षों से एकत्रित पुस्तकों के छोटे से अपने पुस्तकालय सहित 5 मई, 1831 को चोमा कलकत्ता पहुँचे। वहाँ उन्हें एशियाटिक सोसायटी में लाईब्रेरियन के पद पर नियुक्त किया गया और उनका मासिक वेतन 100 रुपये तय किया गया। उनका मुख्य कार्य वी.एच. हगसन द्वारा नेपाल से भेजी गई पाण्डुलिपियों का वर्गीकरण करके प्रकाशन के लिए व्यवस्थित करना था। इस बीच उन्होंने तिब्बती साहित्य एवं संस्कृति से सम्बंधित कई लेख भी लिखे जो समय-समय पर ऐशियाटिक सोसाइटी के जर्नल में छपते रहे।

दिसम्बर 1832 में तत्कालीन एशियाटिक सोसाईटी के सचिव मि.एच. एच. विल्सन ने सरकार से अनुरोध किया कि चोमा द्वारा तैयार किए गए तिब्बती व्याकरण, तिब्बती-अंग्रेज़ी शब्दकोश एवं संस्कृत-तिब्बती-अंग्रेज़ी शब्दावली के प्रकाशन का व्यय राजकीय कोष वहन करे, जिसे तत्कालीन गवर्नर जनरल लॉर्ड विलियम बैन्टिक ने सहर्ष स्वीकार किया। मि. विल्सन के उत्तराधिकारी जे. प्रिंसेस ने चोमा के सहयोग से जनवरी, 1833 में प्रकाशन का कार्य आरम्भ किया। इस काम के लिए बैप्टिस्ट मिशन प्रैस ने नई टाईप-कास्ट तैयार करायी। प्रकाशन के निरीक्षण व प्रूफ-रीडिंग का उत्तरदायित्व स्वयं चोमा ने लिया। इन सभी ग्रन्थों की पाँच-पाँच सौ प्रतियों के मुद्रण पर कुल व्यय 4,985 रुपये 4 आना आया था। जनवरी 1834 को सोसाइटी ने सरकार को सूचित किया कि चोमा द्वारा सम्पादित शब्दकोश की 500 प्रतियाँ प्रकाशित हो गई हैं। चोमा ने अपने लिए 100 प्रतियों की माँग रखी, ताकि वे उन्हें आस्ट्रिया, इटली एवं जर्मनी के विश्वविद्यालयों में भेज सकें।

संयोगवश इसी जनवरी में एशियाटिक सोसायटी की प्रबन्धक कमेटी ने चोमा की योग्यता एवं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान की चर्चा करते हुए सर्व-सम्मति से उन्हें सोसायटी में पेपर कमेटी का ऑनरेरी सदस्य मनोनीत किया, जो चोमा के लिए सम्मान की बात थी। चोमा ने अपने प्रकाशनों की 25-25 प्रतियाँ लन्दन में स्थित आस्ट्रियाई राजदूत के द्वारा राजकुमार इश्टरहाजी के पास भिजवायीं। इश्टरहाजी और हंगरी के सज्जनों द्वारा चोमा के लिए एकत्रित की गई 1400 रुपयों की अनुदान राशि की भरपाई करते हुए अन्य राशियों सहित 3400 रुपये का भुगतान सरकार ने चोमा को किया। चोमा ने अपनी जमा पूँजी की अतिरिक्त धनराशि को हंगरी भिजवाया ताकि जन-साधारण के किसी काम आ सके। मि. प्रिन्सेप ने चोमा से अपने आवश्यक व्यय के लिए कुछ धन बचाने के लिए कहा; पर वे कहाँ मानने वाले थे।

इसी दौरान उन्हें कुछ ऐसा लगने लगा कि संस्कृत एवं हंगेरियन भाषा के बीच निस्संदेह गहरा सम्बंध है। अब उन्होंने पुनः तीन वर्षों के लिए अध्ययन-अवकाश पर जाने का विचार किया। तत्पश्चात् 1840 में वह वापिस हंगरी लौटने की योजना बनाने लगे। उन्होंने सरकार से अनुरोध किया कि उन्हें अंग्रेजी एवं फारसी में लिखित पार-पत्र दिया जाए। संस्कृत का अध्ययन तो वे कलकत्ता में कर ही रहे थे और अधिक गहन अध्ययन हेतु वह किसी दूर गाँव में जाना चाहते थे। अतः इस प्रयोजन से वे माल्दा पहुँचे। परन्तु अध्ययन के दौरान उनकी संस्कृत-हंगेरियन वाली अवधारणा निर्मूल सिद्ध होने लगी। अन्ततः सन् 1837 में लगभग दो वर्षों के बाद संस्कृत एवं बंगाली भाषा के ज्ञाता बनकर वह वापिस कलकत्ता लौट आए और अपने पुराने कार्य में जुट गए। इस अवधि में उनके हिमालयी बौद्ध संस्कृति से सम्बंधित कई लेख एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल में छपते रहे। उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण 'कंग्युर एवं तंग्युर का विश्लेषण' था।

सन् 1837 के उत्तरार्द्ध में डॉ. मलान, जो कलकत्ता बिशप्स कालेज से सम्बन्धित थे, थोड़े समय के लिए डॉ. जे. प्रिन्सेप के स्थान पर एशियाटिक सोसाइटी के सचिव हुए और वह चोमा के घनिष्ठ मित्र बन गए। इंग्लैण्ड के लिए विदा होते समय चोमा ने अपनी तिब्बती की सारी पुस्तकें डॉ. मलान को भेंट कर दीं। उन्होंने वे 40 पुस्तकें चोमा की जन्म शताब्दी के उपलक्ष्य में रॉयल हंगारियन अकादमी ऑफ साईन्सज़, बुदापेस्ट को भेंट कीं, जो आज भी वहाँ सुरक्षित हैं। 9 फरवरी, 1842 को चोमा ने तात्कालिक एशियाटिक सोसाइटी के सचिव मि. दोरेन्ट के नाम अपने पत्र में ऐशियाटिक सोसाइटी

के सहयोग एवं असीम कृपाओं के प्रति भाव-भीनी कृतज्ञता प्रकट की।

अपनी शेष पुस्तकों को चार सन्दूकों में लेकर पुनः मध्य एशिया को अपना लक्ष्य बनाकर चोमा ने तिब्बत की ओर प्रस्थान किया। इस बार वे सिक्किम होते हुए पहले ल्हासा पहुँचना चाहते थे। यह रास्ता अन्य रास्तों में सुगम एवं सुरक्षित भी था। सैंकड़ों मीलों की पैदल यात्रा करके वे हिमालय की तराइयों में पहुँचे। वहाँ से उन्हें दार्ज़िलिंग के पहाड़ों की ओर जाने के लिए रंगपुर ज़िला के तितलिया के आसपास के घने जंगलों को पार करना था। यह क्षेत्र मलेरिया मच्छरों के लिए कुख्यात था। संभवतः चोमा को एक रात कहीं इन्हीं जंगलों में गुज़ारनी पड़ी, जहाँ उन्हें मच्छरों के कोप का भाजन होना पड़ा। क्योंकि 24 मार्च को जब वे दार्जिलिंग पहुँचे तो बुखार से पीड़ित थे। परन्तु उत्साह में कोई कमी नहीं थी।

जीवन के उन अन्तिम क्षणों में डॉ. आर्किबाल्ड कैम्पबेल उनके निकट थे। यथाशक्ति उपचार एवं सेवा के बावजूद वे चोमा को बचा नहीं पाये। उन्होंने ही सरकार को चोमा की मृत्यु एवं उनसे सम्बंधित सम्पत्तियों की औपचारिक सूचना दी। उस समय वे दार्जिलिंग क्षेत्र के राजकीय प्रतिनिधि थे। वे चोमा से पूर्व परिचित थे। उन्होंने ही चोमा की सिक्किम यात्रा के लिए आवश्यक पार-पत्र इत्यादि की व्यवस्था की थी और इस सिलसिले में वे सिक्किम राजा के उत्तर की प्रतीक्षा कर रहे थे।

आर्किबाल्ड चोमा की रुग्ण दशा के विषय में अपनी रिपोर्ट में लिखते हैं कि उनके आग्रह के बावजूद चोमा दवा लेने से इन्कार करते रहे। बुखार के कारण उनकी जीभ की चमड़ी शुष्क हो गई थी। बीच में केवल एक दिन उनके स्वास्थ्य में कुछ सुधार हुआ था। अन्यथा दिन-प्रतिदिन स्थिति गम्भीर होती जा रही थी। अप्रैल की 9 तारीख को डॉ. ग्रिफिद्स के सहयोग से उन्होंने बलपूर्वक कुछ दवा चोमा को पिलाई, परन्तु (मलेरिया) बुखार के अन्तिम चरण में दवा कहाँ काम करती। तेज़ बुखार में वे बड़बड़ाने लगते थे। 10 अप्रैल की प्रातः उनकी हालत कुछ ठीक-सी लग रही थी, परन्तु कुछ स्पष्ट बोल पाने में असमर्थ थे। शाम ढलते-ढलते उनकी दशा और बिगड़ गई, जिसके फलस्वरूप 11 अप्रैल, 1842 को प्रातः पाँच बजे चोमा ने बिना किसी कराहट एवं कठिनाई के अपनी अन्तिम साँस ली। 12 अप्रैल को प्रातः आठ बजे उनके पार्थिव शरीर को दार्जिलिंग में ही दफनाया गया और वहीं सभी सज्जनों की उपस्थिति में चोमा के अन्तिम संस्कार का औपचारिक वाचन भी स्वयं आर्किबाल्ड कैम्पबेल द्वारा विधिपूर्वक सम्पन्न किया गया।

इस प्रकार एक युगपुरुष के पुरुषार्थपूर्ण जीवन का अन्त हुआ। उन्होंने व्यक्तिगत सामर्थ्य व मानव समाज के प्रति उत्तरदायित्वों के निर्वाह की असीमित संभावनाओं की अमूल्य धरोहर को आनेवाली संततियों के लिए छोड़ दिया। आज के संदर्भ में भले ही अलेक्ज़ेंडर चोमा दी कोरोश द्वारा प्रतिपादित अनुसंधान बहुत अधिक महत्त्व न रखता हो, परन्तु इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि हिमालयी बौद्ध संस्कृति के अध्ययन के क्षेत्र में जो भी आश्चर्यजनक उन्नति हुई है, उसके पल्लवन की पृष्ठभूमि में हंगरी के इसी महामानव का योगदान है। यह भी एक विचित्र संयोग की बात है कि इस महान प्राच्यविद् ने अपने जीवन के अन्तिम पड़ाव के लिए हिमालय को ही चुना। दार्जिलिंग में स्थित उनका स्मारक आज भी मनुष्य के अदम्य साहस, निष्ठा एवं ज्ञान-पिपासा का प्रेरणा स्रोत है। अतः हिमालय-प्रेमियों की ओर से, हिमालयी बौद्ध-विद्या के इस पश्चिमी अग्रदूत अलेक्ज़ेंडर चोमा दी कोरोश को शत्-शत् प्रणाम!

संदर्भ

1. कैलोश ली, बर्नार्ड : 'संझे फुनचोक, दी तिब्बेटिन टीचर ऑफ अलेक्जेंडर चोमा दी कोरस' टिब्बेटन रिव्यु, Vol. XIX, नं. 11, नवम्बर, 1994, पृ. 12–20।
2. चेतरि, इलेक : कोरोशी चोमा शान्दोर इन्दुलास (बुडापेस्ट : करिटेरिओन कोन्यु कियादों, 1979)
3. चोलनोकी, येनो : कोरोशी चोमा शान्दोर (कियादास अज अथेनियम, 1938)।
4. डूका, थ्योदोर : लाईफ एण्ड वर्कस ऑफ अलेक्ज़ेंडर चोमा दी कोरोस (नई दिल्ली, मंजुश्री पब्लिशिंग हॉऊस, 1992)।
5. तर्जेक, जोसेफ : अलेक्ज़ेंडर चोमा दी कोरोस (1784-1842) : ए शोर्ट बियोग्राफी (बुडापेस्ट : एकादेमियाई कियादो, 1984)।
6. फ्रेरेन्ज़, ईवा : दी लाईफ ऑफ अलेक्ज़ेंडर चोमा दी कोरोस इन पिक्चर (हंगरी 1984) यह केवल शीर्षक सहित 25 रेखाँकनों का संकलन मात्र है। लेखिका ने तिब्बती लिपि में इसे 'पियगलिङ् गी ग्रा रनम् थर' नाम दिया है।
7. बक्ते, इर्विन : कोरोसी चोमा शान्दोर (बुदापेस्ट : फ्राँकलिन न्योम्दा, 1962)।
8. ब्लास्कोविच, लजोस : ओश्यज़ हज़ कोरोशी चोमा शान्दोर हलारतनाक साज़ एवफोरदुतोजन (कैदाशस्टेडियम सयतो वालालत, 1942)।
9. मुखर्जी, हीरेन्द्र नाथ : हरमिट हीरोफ्राम हंगरी : अलेक्ज़ेंडर चोमा दी कोरोस, दी ग्रेट तिब्बेटोलोजिस्ट (नई दिल्ली : लाईट एण्ड लाईफ पब्लिकेशनस् 1981)।
10. शिलाज्यी, फेरेन्स : कोरोशी चोमा (बुदापेस्ट : अकादेमिआई कियादो, 1966)।
11. वही, इज्यी एल्त : कोरोशी चोमा शान्दोर (बुदापेस्ट : मोरा कोन्यु कियादो, 1977)।
12. लोई, लिगेती : सं. प्रोसिडिंगज़ ऑफ दी चोमा दी कोरोस मेमोरियल सिम्पोज़ियम हेल्ड एट मातरफर्ड, हंगरी, 24-23 सितम्बर, 1976 (बुदापेस्ट : अकादेमियाई

किंयादो, 1978)।

13. लोई, लिगेती : तिबेतन एण्ड बुद्धिस्ट स्टडीज़ कोमेमोराटिंग द 200 एनिवर्सरी ऑफ द बर्थ ऑफ दी अलेक्ज़ेंडर चोमा दी कोरोस वाल्युम– I एवं II बुदापेस्ट : अकादेमियाई कियादो 1984)।
14. त्रिलोक दीप : अलेक्ज़ेंडर चोमा (नई दिल्ली : अमरदीप प्रकाशन, 1954)।
15. गेरी आल्डर : बियोण्ड बोखारा : दी लाईफ ऑफ विलियम मूरक्रॉफ्ट, (1767-1835) (लंदनः सैन्चुरी पब्लिशिंग, 1985)।
16. यानोस कुबास्सेक : हंगेरियन हर्मिट ऑफ द हिमालया : द लाईफ ऑफ शान्दोर कोरोशी चोमा (बुदापेस्ट : हंगेरियन एन्शयन्ट हिस्ट्री रिसर्च एण्ड पब्लिशिंग हॉउस, 1999)।
17. कोरोशी चोमा शान्दोर की रचनाओं को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। प्रथम वे जो कलकत्ता से विभिन्न पत्रिकाओं में छपीं जैसे तिब्बती व्याकरण एवं शब्दकोश तथा अन्य निबन्ध इत्यादि तथा दूसरे वर्ग में उनकी पाण्डुलिपियाँ। डॉ. डूका थ्यादोर, पृ. 169।

प्रथम प्रकार की रचनाएँ (सभी अंग्रेज़ी रचनाएँ) :

1. 'कंग्युर एवं तंग्युर का विश्लेषणः बंगाल एशियाटिक रिसर्च (खण्ड-1 XX)।
2. तिब्बत का भौगोलिक निरूपण', एशियाटिक सोसाईटी जॉर्नल, बंगाल, (खण्ड-1 पृ. 122)।
3. एक तिब्बती भगनावशेष का अनुवाद : एशियाटिक सोसाईटी जॉर्नल, बंगाल, (खण्ड1, पृ. 269)।
4. कालचक्र एवं आदिबुद्ध प्रणाली पर टिप्पणी : एशियाटिक सोसाईटी जॉर्नल, बंगाल, (खण्ड-2, पृ. 57)।
5. तिब्बती पार-पात्र का अनुवाद : एशियाटिक सोसाईटी जॉर्नल, बंगाल, (खण्ड-2, पृ. 201)।
6. कंग्युर से अनुदित, शाक्य-जाति की उत्पत्ति : एशियाटिक सोसाईटी जॉर्नल, बंगाल (खण्ड-2, पृ. 201)।
7. तिब्बती व्याकरण में अंक अभिव्यक्ति की शैली : एशियाटिक सोसाईटी जॉर्नल, बंगाल (खण्ड-3, पृ. 6)।
8. तिब्बती रचनाओं से उदाहरण : एशियाटिक सोसाईटी जॉर्नल, बंगाल (खण्ड-3, पृ. 57)।
9. तिब्बती भाषा का व्याकरण एवं शब्दकोश : खण्ड-2, (कलकत्ता : 1834)।
10. आसाम से प्राप्त भूटानी ध्वज पर तिब्बती अभिलेख की व्याख्या : एशियाटिक सोसाईटी जॉर्नल, बंगाल, (खण्ड-5, पृ. 383)।
11. तिब्बती पुरोहितों के श्वेत रेशमी उत्तरीय के किनारों पर लिखे शब्दों का अनुवाद : एशियाटिक सोसाईटी जॉर्नल, बंगाल (खण्ड-5, पृ. 383)।
12. विभिन्न बौद्ध (दार्शनिक) प्रणालियों पर दृष्टि', एशियाटिक सोसाईटी जॉर्नल, बंगाल, (खण्ड-7, पृ. 142)।
13. तिब्बता में पाई जाने वाली व्याकरण एवं ऐतिहासिक कृतियों की गणनाः एशियाटिक

सोसाईटी जॉर्नल, बंगाल (खण्ड-24, पृ. 141)।

14. बौद्ध ताविजों पर : एशियाटिक सोसाईटी जॉर्नल, बंगाल, (खण्ड-9, भाग-2, पृ. 905)।
15. साक्य पण्डित की सुभाषितानियाँ : एशियाटिक सोसाईटी जॉर्नल, बंगाल, (खण्ड-24, पृ. 141)।
16. तिब्बती चिकित्सा-शास्त्र की समालोचना।

द्वितीय प्रकार की रचनाएँ (पाण्डुलिपियाँ) जो अब प्रकाशित हैं–

1. साक्य पण्डित कुन्गा ज्ञलछन द्वारा रचित रत्न-निधि।
2. संस्कृत-तिब्बतन-अंग्रेज़ी शब्दावली।
3. संस्कृत-हिन्दी-हंगेरियन इत्यादि शब्दों की तुलनात्मक शब्दावली।

'विपाशा' अंक-125, नवम्बर-दिसम्बर, 2006 से

किन्नौर में ऊन बुनाई की परम्परा

डॉ. पंकज ललित

'परिधान' अथवा पहरावा सभ्यता का विशिष्ट अंग है। विभिन्न जातियों, राष्ट्रों तथा वर्गों के लोग अपनी विशिष्ट वेशभूषा से ही पहचाने जाते हैं। विशेष त्यौहार-उत्सवों तथा अन्य आयोजनों पर अपनी परम्परा के अनुसार लोग नए तथा सुन्दर कपड़े पहनते हैं। किसी देश अथवा स्थान विशेष के निवासी मौसम के अनुसार कपड़े पहनने के लिए विवश होते हैं। अतः किसी भी क्षेत्र के पहरावे का प्रमुख आधार जलवायु ही है।

अपने शरीर को मौसम के प्रभावों से बचाने का प्रयास मानव ने हमेशा किया है। सभ्यता व तकनीक के विकास के साथ-साथ ये प्रयास बढ़ते गए हैं। प्राचीन काल में, मानव अपने आप को गुफाओं में रहकर व पेड़-पौधों की छाल से ढाँप कर बचाता रहा। तत्पश्चात् मनुष्य ने विभिन्न जानवरों की खाल का प्रयोग आरम्भ किया। पाषाण युग के उपरान्त उसने कई प्रकार की फसलें उगाने के लिए औज़ारों का निर्माण कर लिया, जिससे उसे कई प्रकार के कपड़े के निर्माण व उपयोग का पता चला। यह कहना कठिन है कि कताई व बुनाई की कला किस काल विशेष में प्रारम्भ हुई, परन्तु रामायण, महाभारत, वेदों, उपनिषदों व मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में लोगों द्वारा प्रयोग में लाए जा रहे वस्त्रों व परिधानों के बारे में व्यापक उल्लेख हैं। हालाँकि प्राचीन भारतीय ग्रन्थ बुनाई की उत्पत्ति तथा बुनाई कला में उपयोग होनेवाले साधनों के बारे में मौन हैं, परन्तु यह बात तय है कि सभ्यता व तकनीक के विकास के साथ-साथ बुनाई कला में भी विकास हुआ है। कताई व बुनाई की कला निश्चित तौर पर 24वीं सदी ईसा पूर्व उपयोग में थी।

रंगीन कपड़ा बनाने की कला को सबसे पुरातन भारतीय कलाओं में एक माना गया है। हड़प्पा व मोहन-जोदड़ो की खुदाई में मिले अवशेषों से यह

स्पष्ट पता चलता है कि 5000 वर्ष पूर्व जीवन यापन कर रहे लोगों में कताई व बुनाई लोकप्रिय थी। इन स्थलों पर सूती कपड़े व खड्डियों में प्रयुक्त होनेवाले उपकरण मिले हैं। भारत संभवतः बुनाई कला में पारंगत होने में विश्व में अग्रणी रहा है।

बुनाई की कला व वस्त्रों की रंगाई पुरातन काल में मनुष्य के जीवन के इतने महत्त्वपूर्ण कर्म थे कि इन्हीं की कई तकनीकों के आधार पर दर्शन व धार्मिक चिन्तन का नामकरण भी हुआ। पुरातन बौद्ध ग्रन्थ सूत्र का नाम 'सुत' यानि धागा अथवा 'साथ जोड़ना' के आधार पर पड़ा। किसी पवित्र पुस्तक यानि ग्रन्थ, जैसे 'गुरू ग्रन्थ साहिब' का 'ग्रन्थ' नाम भी 'साथ बुनने' जैसी वस्त्रों से सम्बंधित भाषा के आधार पर ही हुआ। इसी प्रकार के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

'स्कन्द पुराण' में नगाधिराज हिमालय के दर्शन मात्र से पापों के नष्ट होने की बात कही गई है। 'रामायण' के अनुसार इसका ध्यान मात्र करने से काशीवास का फल मिलता है। चिन्तन, आस्था, विश्वास, सांस्कृतिक परिरक्षण तथा आध्यात्मिकता की दृष्टि से हिमालय अनुपम, अद्भुत, अद्वितीय है। यह मानवता का पालनहार व पुरातन कला और संस्कृति का खजाना है।

हिमाचल प्रदेश के अत्यंत ठंडे सर्दी के मौसम ने यहाँ के लोगों को भी ऊन की कताई-बुनाई करने को मजबूर कर दिया। हिमाचल प्रदेश के अनूठे हस्तशिल्प उत्पाद यहाँ के लोगों की सृजनात्मकता को प्रदर्शित करते है।, इससे यहाँ के लोगों के सपनों को बहुमूल्य कलाकृतियों के रूप में साकार किया गया है। चाहे वह काष्ठ-कला या हथकरघा उत्पाद हों अथवा हाथ की कढ़ाई से निर्मित चम्बा रुमाल या फिर चम्बा की चर्म-कला या काँगड़ा की चित्रशैली।

हिमाचल प्रदेश की भौगोलिक स्थिति व शीत जलवायु भेड़-बकरी पालन के लिए उपयुक्त है तथा यह ऊनी वस्त्रों की आवश्यकता को भी पूरा करती है। रोज़-मर्रा की आवश्यकता के साथ-साथ ऊन बुनाई यहाँ एक बेहद सुन्दर कला के रूप में उभरी है, जिसे परिवार-समूहों अथवा व्यवसायिक बुनकरों द्वारा पीढ़ी-दर-पीढ़ी कई सदियों से आगे बढ़ाया तथा विकसित किया गया है। बुनाई यहाँ सिर्फ उत्पादन अथवा आर्थिक विकास का माध्यम न होकर, अभिव्यक्ति व सृजनात्मक का भी द्योतक है। बुनाई लोगों की रोज़मर्रा की नीरस ज़िन्दगी में नए अर्थ व रंग भरती है।

बुनाई कला की हिमाचल प्रदेश में शुरुआत कब हुई, यह कहना तो

शायद सम्भव नहीं है, परन्तु यह तय है कि यह कला यहाँ बहुत पुरातन है। प्रदेश में ऊन काफ़ी मात्रा में पैदा होती थी। तिब्बत के साथ व्यापार की सुविधा होने के कारण यहाँ से ऊन व पश्मीना का निर्यात होता था। चार्लस ए. शेरिंग की पुस्तक 'Western Tibet and British Border Land' से ली गई पंक्तियाँ इस सत्य को दर्शाती हैं – *"यह चरागाहें मानसरोवर झील के पूर्व से असंख्य मीलों तक साङ्पो या ब्रह्मपुत्र नदी के साथ-साथ कैलास पर्वत के उत्तर की ओर तथा कुछ हद तक पवित्र झीलों के पश्चिम की ओर फैली हैं। परन्तु इस बारे में कोई सन्देह नहीं है कि मानसरोवर वह स्थान है जहाँ पश्चिमी तिब्बत का समूचा ऊन व्यापार केन्द्रित है। वह ऊन चाहे लद्दाख, नेपाल, शिमला अथवा कुमाऊँ जाती हो, परन्तु वह अधिकांशतः इसी हिस्से या इसके पूर्वी क्षेत्र से आती है। इसके व्यापार के और आगे विस्तार सम्बंधी किसी भी प्रश्न का हल खोजते हुए, इस मूल सत्य को नहीं भूलना चाहिए"।*

प्रदेश के सम्पन्न ऊन व्यापारियों के सम्बंध में स्वेन हेडिन ने अपनी पुस्तक 'Trans-Himalaya' में लिखा है– *"ये रामपुर से आते हैं, इन्होंने ऊन गर्तसे में खरीदी है, जिसे वे गार्तोक तथा भारत पाँच सौ भेड़ों पर ले जाएँगे। उन्होंने हरेक भेड़ के लिए दो रुपये दिए हैं। वर्ष में करीब सोलह भारतीय काफिले गर्तसे से ऊन लाते हैं तथा निस्संदेह वे बहुत लाभ अर्जित करते हैं।"*

ऊन की इस अधिकता ने कताई व बुनाई को घर-घर का उद्योग बना दिया तथा इसका अच्छा विकास हुआ। जसलीन धमीजा इस कला के हिमाचल में जन्म तथा विकास के बारे में लिखती हैं – *"महारानी मुमताज़ महल को सतरहवीं सदी में हिमाचल प्रदेश की ऊन बुनाई की कला को खोजने का श्रेय जाता है। पहाड़ी क्षेत्रों में गया एक आरोहण दल वापसी में महारानी के लिए गूढ़ डिज़ाईनों में निर्मित ऊनी वस्त्र लाया, जिनके डिज़ाईनों व कोमलता को देखकर महारानी इतनी प्रभावित हुईं कि उन्होंने उन्हें शाही संरक्षण प्रदान किया, जिससे यह उत्पाद कश्मीर व तुर्कीस्तान के अच्छे ऊनी उत्पादों की श्रेणी में आ गए।"*

परम्परागत मान्यताओं के अनुसार, ऊन को पवित्र माना जाता है तथा इस क्षेत्र में सभी धार्मिक अनुष्ठानों हेतु ऊनी कपड़े बुनना शुभ माना जाता है। उदाहरणार्थ दूल्हे व दुल्हन को विवाह के दौरान ऊनी शॉल ओढ़ाये जाते हैं, ताकि उन्हें बुरी नज़र से बचाया जा सके। ऊन, पशमीना व बकरी के बालों से बने वस्त्रों का विशेष महत्त्व है। पुराने धर्म-ग्रन्थों में इन्हें अर्द्ध-पवित्र माना

गया है। प्राचीन परम्पराओं के आधार पर ग्रामीण लोगों की यह आस्था है कि ऊन ब्रह्मा द्वारा निर्मित चार पवित्र चीज़ों में से एक है। अन्य तीन--अग्नि, ब्राह्मण व कुशा घास है।

ऊन के नाशवान होने के कारण ऊनी वस्त्रों के बहुत पुराने नमूने अब उपलब्ध नहीं हैं, न ही इनके बारे में कोई ऐतिहासिक अथवा पुरातात्त्विक प्रमाण बचे हैं। पहाड़ी लोक गीतों में यहाँ-वहाँ इनका उल्लेख अवश्य मिलता है।

एक ब्रिटिश अफ़सर जे. बी. फ्रेज़र, सन् 1815 में बुशहर रियासत, वर्तमान किन्नौर जिसका हिस्सा था, यहाँ भ्रमण करते हुए लिखते हैं कि अच्छी किस्म की ऊन काफ़ी मात्रा में रियासत में उपलब्ध थी और बेहतर किस्म की ऊन भूटान से आयात की जाती थी। एक मोरावियन मिशनरी, श्रीव उन्नीसवीं सदी के अन्त में यूरोप से हस्तचालित खड्डी किन्नौर लाए और उन्होंने किन्नौरों को कम्बल बुनना सिखाया। 1914-15 के लगभग, सैल्वेशन आर्मी ने एक बुनाई प्रशिक्षण केन्द्र चीनी (आज का कल्पा) में स्थापित किया, जहाँ उन्होंने स्थानीय बुनकरों को आधुनिक बुनाई तकनीकें सिखाईं। इस केन्द्र में प्रशिक्षुओं को एक मास्टर बुनकर द्वारा प्रशिक्षित किया जाता था, जिसे मिशनरी युनिट की लुधियाना स्थित शाखा में प्रशिक्षित किया गया था।

ऊन ने बहुत पहले से तिब्बत के साथ लगती उत्तरी हिमालयी क्षेत्र की रियासतों की सामन्तवादी अर्थव्यवस्था को प्रभावित किया है। विभिन्न रियासतों के शासक मध्य एशियाई व पूर्वी तिब्बत से आनेवाले उत्पादों के आयात व्यापार पर कब्ज़ा करने की दृष्टि से आपस में लड़ते रहते थे। इनमें ऊन के व्यापार की प्रमुख भूमिका थी। हिमालयी क्षेत्र की चरागाहें, जो मध्य एशिया, लद्दाख, स्पीति तथा तिब्बत के अन्य क्षेत्रों में फैली थीं—शापो आदि हिमालयी पर्वतीय भेड़-बकरियों की शरण-स्थली थीं और उनसे बढ़िया किस्म की ऊन निकाली जाती थी। इन भेड़ों को प्रकृति ने अत्यन्त ठंडी जलवायु का सामना करने के लिए बाह्य बालों के साथ-साथ एक विशेष प्रकार की मुलायम, परन्तु अत्यन्त गर्म ऊन से भी ढका था। ये जीव अपने जिस्म को जंगली झाड़ियों तथा चट्टानों से रगड़ते हैं, जिससे यह नर्म ऊन वहीं छूट जाती है। ड्रोकपा गडरिये, जो हरे चरागाहों की तलाश में इन पहाड़ों पर विचरण करते रहते हैं, वे इस ऊन को इन झाड़ियों व चट्टानों पर से एकत्रित करते हैं और इसे अपनी आवश्यकता के सामान के बदले स्थानीय व्यापारियों को देते है।

तिब्बती गडरियों के कुत्तों में भी विशेष प्रकार की मुलायम ऊन पाई जाती

है। सम्भवतः इसी उच्च स्तरीय ऊन, जिसे असली तूश व पश्मीना कहा जाता है और जो मखमली व गर्म होती है, का प्रयोग आज भी उच्चकोटि की कश्मीरी शॉल बनाने के लिए किया जाता है। यह मुगल काल में बहुत प्रसिद्ध हुई। बुशहर, कुल्लू, कश्मीर तथा हिमालयी राज्यों के अन्य केन्द्रों में कच्चे माल के तौर पर उपलब्ध होनेवाली ऊन निम्न-स्तरीय होती थी, जिसे पालतू चिक्कू बकरियों तथा लद्दाख, स्पीति व हिमालयी बर्फ़ानी मरुस्थल में पाए जानेवाले अन्य जंगली जानवरों से प्राप्त किया जाता था।

चूँकि क्षेत्र की रियासतों की अर्थ-व्यवस्था में ऊन-व्यवसाय का बड़ा प्रभाव था, अतः ऊन तथा अन्य सामान के पर्याप्त आयात को सुनिश्चित करने हेतु इन रियासतों व व्यापारियों में आपस में यदा-कदा संघर्ष होता रहता था तथा रियासतों में आपस में हमेशा शीत-युद्ध की स्थिति भी बनी रहती थी।

ब्रिटिश सरकार भी पश्चिमी हिमालयी क्षेत्र के सीमान्त राज्यों के सामरिक व व्यावसायिक महत्त्व से भली-भान्ति परिचित थी। अतः ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन सत्ता का अधिकार प्रदान करते समय यह शर्त रखी गई थी कि वह उनके राज्य में सड़कों के निर्माण हेतु बेगार उपलब्ध करवाएँगे ताकि तिब्बत से आयात स्वतन्त्र रूप से हो सके। परिणामस्वरूप, जहाँ 1818 ई. तक राज्य में पैदल चलने के रास्ते भी नहीं थे, वहाँ अब नई बनाई सड़कों पर तिब्बत से आयातित ऊन व अन्य सामान से लदी हुई भेड़-बकरियाँ रामपुर पहुँचने लगी थीं। अलेग्ज़ैंडर जेरालड इस बारे में लिखते हैं– *"ऊन के व्यापार में बढ़ोतरी से किन्नौरों को भी लाभ मिल रहा है। पिछले कुछ समय से वे इस क्षेत्र की ज़्यादा इस्तेमाल होनेवाली सड़कों को बेहतर बना रहे हैं। पिछले वर्ष मैंने देखा कि जो रास्ते घुमक्कड़ों के उपयोग के लिए पहले कठिन थे, उन पर से अब लदी हुई भेड़ें बिना ज़्यादा परेशानी के निकल रही थीं। उनमें से कुछ ढाँकों से नीचे भी गिरीं, परन्तु लोगों ने मुझे बताया कि वे इन रास्तों को और बेहतर बनाएँगे, हालाँकि उसके लिए उन्हें अधिक समय व बार-बार मुरम्मत करने की आवश्यकता रहेगी।"*

ब्रिटिश क्षेत्र व तत्पश्चात् ब्रिटेन को शॉल-ऊन का निर्यात करने की दृष्टि से 1820 ई. में कोटगढ़ में एक सरकारी एजेन्सी स्थापित की गई; परन्तु स्थानीय लोगों की इच्छा-शक्ति के अभाव व असहयोग के कारण यह प्रयोग सफ़ल नहीं हो पाया।

जे.डी. कनिंघम ने 1840 ई. के दशक में अपने बुशहर प्रवास के दौरान आयात व्यापार सम्बंधी गतिविधियों के बारे में आँकड़े एकत्रित कर एक

रिपोर्ट ब्रिटिश सरकार को प्रस्तुत की। उनकी रिपोर्ट के आधार पर ब्रिटिश सरकार ने सन् 1847 में बुशहर व तिब्बत के मध्य अन्तर्सीमा व्यापार को बढ़ावा देने हेतु सीमा-शुल्क हटा दिया था। इसके फलस्वरूप और अधिक तिब्बती व्यापारी बुशहरी बाज़ारों की ओर आकर्षित हुए तथा पूरे राज्य का ऊन पर आधारित लघु उद्योग इससे लाभान्वित हुआ। किन्नौर में ऊन पर आधारित हस्तशिल्प इतना विकसित हुआ कि बुनकर का एक अलग वर्ग बन गया। रंगीन किन्नौरी कम्बल, गुदमें, मफ़लर तथा अन्य वस्त्र उत्पाद बुशहर के बाज़ारों में लोकप्रिय हो गए।

कनिंघम ने भारतीय क्षेत्र से तिब्बती ऊन-बाज़ारों के बीच बेहतर सड़क व्यवस्था स्थापित करने की भी सलाह दी थी, ताकि बेहतर गुणवाली ऊन और अधिक मात्रा में तिब्बत से बुशहर व नीचे के इलाकों के ऊन-केन्द्रों तक पहुँच सके। तदनुसार, 1850 ई. में पश्चिमी तिब्बती सीमा से शिमला के बीच एक 'ऊन सड़क' का निर्माण सम्पन्न हुआ, जिसे हिन्दुस्तान-तिब्बत सड़क के नाम से जाना जाने लगा। इस सड़क के बनने से गूँठ (तिब्बती घोड़ा), भेड़ व बकरियों के माध्यम से ऊन व अन्य वस्तुएँ तिब्बत से बुशहर की मंडियों तथा उसके उपरान्त भारत के अन्य बाज़ारों तक पहुँचने लगीं। हालाँकि 'सिल्क रोड' चीन, मध्य एशिया तथा भारत के बीच एक प्रसिद्ध व्यापार मार्ग था, परन्तु 'ऊन सड़क' भी अपने आप में एक महत्त्वपूर्ण व्यापार मार्ग बना, जो तिब्बत, मध्य एशिया व चीन को भारत में पंजाब के मैदानों से जोड़ता था।

ऐसा समझा जाता है कि किन्नौर क्षेत्र में ऊन बुनाई की प्रथा 5000 वर्षों से भी अधिक पुरानी है। कहा जाता है कि ऊनी वस्त्रों पर खूबसूरत डिज़ाईन (motifs) बनाने की कला किन्नौर के सुन्नम गाँव में आरम्भ हुई। किन्नौर में यह कला उज़्बेकीस्तान के ताशकन्द से चीन व तिब्बत होते हुए आई। किन्नौरी बुनाई पर पड़े इस प्रभाव को दीवार-ए-चीन आदि परम्परागत डिज़ाईनों में स्पष्ट देखा जा सकता है।

यदि हम वर्तमान परिदृश्य को देखें तो हिमाचल प्रदेश के ऊपरी क्षेत्रों में, जिसमें किन्नौर भी शामिल है, बुनाई हेतु मुख्यतः ऊन का ही प्रयोग किया जाता है; क्योंकि यह क्षेत्र ऊन के उत्पादन में भी अग्रणी है। प्रदेश में ऊन उत्पादन की मात्रा व गुणवत्ता में सरकार के प्रयासों से सुधार हुआ है। स्थानीय स्तर पर उपलब्ध होनेवाली ऊन को ग्राहकों व व्यापारियों द्वारा सामान्यतः सर्दियों में खरीदा जाता है, जब भेड़पालक निचले क्षेत्रों में आते हैं। तदुपरान्त इसे साफ़ कर काता जाता है और फिर पट्टियाँ, पट्टू, शॉल, मफ़लर

व दोहड़ू आदि बनाने के लिए प्रयोग किया जाता है।

पश्चिमी हिमालय क्षेत्र के अंदरूनी इलाकों में भेड़-बकरियों की देसी व अन्य प्रजातियों के पालन-पोषण के लिए बढ़िया पर्यावरण उपलब्ध है। ये जीव अलग-अलग गुणवत्तावाली ऊन का उत्पादन करते हैं। जहाँ बाहरी समशीतोष्ण इलाकों में मोटी ऊन पैदा होती है, वहीं भीतरी हिमालय क्षेत्र के यंगथंग क्षेत्र में अति उत्तम किस्म की मुलायम ऊन का उत्पादन होता है। ऊन की गुणवत्ता इन जानवरों की नस्लों पर निर्भर करती है। सामान्यतः सर्दियों के बाद निकाली गई ऊन के रेशे अधिक मुलायम होते हैं। ऊन की गुणवत्ता तथा जलवायु की शीतलता ऊँचाई के साथ-साथ बढ़ती जाती है। निचले गर्म क्षेत्रों में जहाँ से भेड़ें पलायन नहीं करती, वहाँ वे लम्बे व रूखे बालों से ढकी रहती हैं, जिनसे निकलनेवाली ऊन को 'देसर' कहा जाता है। गद्दी तथा बुशहरी भेड़ों से निकलनेवाली ऊन की गुणवत्ता अंदरूनी, ऊँचाईवाले क्षेत्र में बढ़ती जाती है, क्योंकि वहाँ तापमान व नमी का स्तर कम रहता है। किन्नौरी भेड़ों से प्राप्त होनेवाली इस प्रकार की ऊन को 'बयाँगी' कहा जाता है। इसके रेशे की लम्बाई 2" से 4" तक होती है।

देसी व मैरिनों की मिश्रित नस्ल की भेड़ों से भी ऊन प्राप्त की जाती है। यह ऊन देसी ऊन से बेहतर होती है। देसी ऊन सफेद, काले, भूरे व ब्रॉउन रंगों में मिलती है। इसके मोटे व रूखे रेशे होने के कारण आम तौर पर इसे कम्बल, पट्टू तथा दोहड़ू अथवा नमदे आदि बनाने में प्रयोग किया जाता है। बेहतर किस्म की देसी ऊन से शॉल बनाए जाते हैं।

आजकल ऑस्ट्रेलिया से आयातित मैरिनो ऊन का प्रचलन हिमाचल प्रदेश में बहुत बढ़ गया है, जिसका मुख्य कारण इस ऊन की बेहतर गुणवत्ता है। इसके रेशे देसी ऊन से ज़्यादा मुलायम व लम्बे होते हैं। आजकल किन्नौर व कुल्लू के अधिकतर ऊनी उत्पाद इसी मैरिनो ऊन से बनाए जाते हैं। हाथ वाली शॉलों में इस ऊन को हाथ से कात कर उपयोग में लाया जाता है।

पशमीना ऊन एक पहाड़ी बकरी 'Capra hircus' से निकाली जाती है, जो मध्य एशिया में पाई जाती है। यह बकरी, जिसे स्थानीय लोग 'चीगू' कहते हैं, तिब्बत, कश्मीर, लाहुल-स्पीति व किन्नौर में कम संख्या में पाई जाती है। पुराने समय में पशमीना व अन्य प्रकार की ऊन के व्यापार का एक मुख्य केन्द्र रामपुर था, यहाँ के लोगों का मुख्य व्यवसाय पशमीना तैयार करना ही होता था।

अपने शुद्ध रूप में पशमीना बहुत मुलायम स्पर्श देता है। यह सामान्यतः

सफेद व भूरे तथा थोड़ी मात्रा में काले रंग में मिलता है। पशमीना से बननेवाले शॉल श्रेष्ठ गुणवत्ता के होते हैं। वे हल्के परन्तु बहुत गर्म होते हैं। अपनी गुणवत्ता के कारण पशमीना के उत्पाद काफ़ी महंगे भी होते हैं।

ऊन की बुनाई हेतु पहले-पहल पिट-लूम का प्रयोग आरम्भ हुआ। यह खड्डी अभी भी किन्नौर क्षेत्र में काफ़ी लोकप्रिय है, क्योंकि इसे बुनकर द्वारा स्वयं अपने घर के निचले भाग के अकेले से हिस्से में स्थापित किया जा सकता है। खड्डी के फ्रेम को फर्श पर स्थापित किया जाता है। इसके पैडल एक पिट (गड्ढे) में होते हैं। बुनकर फर्श पर बैठे हुए ही हथकरघे पर कार्य करते हैं तथा उनके पाँव पिट में करघे के पैडलों पर होते हैं।

कुछ बुनकर अब लकड़ी के थ्रो-शटल हथकरघों पर कार्य करने लगे हैं। यह पिट-लूम की तरह ही होता है, परन्तु इसमें बुनकर एक बैंच पर बैठता है तथा उसके पाँव फर्श पर होते हैं। इन दोनों प्रकार की खड्डियों में अधिकतम चार शैफ्ट व चार पैडल होते हैं। सामान्यतः अधिकतर अपने इस्तेमाल के लिए बनाये जानेवाले परम्परागत उत्पाद जैसे दोहड़ू, पट्टू, पट्टी व कम्बल आदि पिट-लूम अथवा थ्रो शटल-लूम पर बनाए जाते हैं।

पिछले कुछ समय से प्रदेश में फ्लाई-शटल हथकरघों का प्रयोग बढ़ा है। सरकारी एजेन्सियों द्वारा बुनकरों को उपलब्ध करवाए जानेवाले हथकरघे सामान्यतः इसी प्रकार के होते हैं। जैसा नाम से ही प्रतीत होता है, इस करघे में फ्लाई-शटल का प्रयोग किया जाता है। हाथ से फेंकनेवाले और फ्लाई-शटल में मुख्य अन्तर यह है कि इस शटल के साथ बुनाई करने हेतु हाथ का प्रयोग शटल फेंकने हेतु नहीं किया जाता, अपितु शटल हत्थे पर रस्सी से बंधे हत्थे या पिकर की सहायता से चलती है। रस्सी से हत्था या मुट्ठा बंधा होता है, जिसे हाथ के साथ बायें या दायें चलाया जाता है। चलाने से शटल स्ले रेस पर दायें या बायें जाती है।

गलीचा बुनाई हेतु गलीचा बुनाई करघा प्रयोग में लाया जाता है जिसे आदिकालीन करघे की तरह लम्बत रूप में उपयोग किया जाता है। यह करघा खड़े रुख में एक लकड़ी या लोहे का साधारण ढाँचा होता है। इस करघे पर ताना लम्बत कस कर लगाते हैं तथा बाने के धागे को ताने के धागे में विशेष प्रकार की गाँठ लगा कर डालते जाते हैं। इसमें रच्छ की जगह सूती लूप का प्रयोग होता है। गलीचे हेतु ताना मोटे सूती धागे व डिज़ाईन ऊनी धागे से डालते हैं। यह गलीचा गाँठदार कहलाता है। क्षेत्र में मुख्यतः तिब्बतीयन डिज़ाईनों-वाले गलीचे ही बनाए जाते हैं, जो इसी विधि से बनते हैं।

किन्नौर के ऊनी उत्पादों में किन्नौरी शॉल सबसे प्रमुख है। यह मुलायम व गर्म होने तथा उच्च कारीगरी के कारण विश्व प्रसिद्ध है। हिमाचल प्रदेश के अन्य क्षेत्रों जैसे कुल्लू आदि में बनाए जानेवाली शॉलों व अन्य उत्पादों में भी किन्नौरी प्रभाव स्पष्ट झलकता है। हिमाचल प्रदेश के शॉलों की एक अलग विशेषता यह है कि यह दोनों तरफ से एक-जैसे दिखते हैं। बुनाई के दौरान हाथ से बाने में रंगीन धागा डालने से शॉल बुनाई, डिज़ाईन व रंगों की व्यवस्था में यह दोनों तरफ से एक-जैसा दिखता है। इस तरह का प्रभाव पॉवर-लूम अथवा दूसरे किसी अन्य विकसित करघे से सम्भव नहीं है।

किन्नौर के शॉल का एक विशिष्ट इतिहास है। 'मझिम निकाय' के अनुसार वहित देश – जो जम्मू-कश्मीर व हिमाचल प्रदेश के उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र में फैला हुआ था, 'वहितिका' अथवा ऊनी लोई बनाने के लिए प्रसिद्ध था। इसी प्रकार की एक 'लोई' महात्मा बुद्ध के एक निकट शिष्य आनन्द को राजा प्रसेनजीत द्वारा भेंट की गई थी। इससे यह स्पष्ट है कि इस क्षेत्र में प्लेन ऊनी वस्त्र–वहितिका अथवा लोई बनाने की कला ईसा पूर्व छठी-पाँचवी सदी में भी प्रचलित थी। पुराने भारतीय साहित्य में अंगवस्त्र, कटिवस्त्र, कमरबन्द आदि बिन सिले वस्त्रों के उल्लेख से भी स्पष्ट है कि भारत में शॉल जैसे वस्त्र बहुत पुरातन काल से प्रचलित थे।

फारसी शब्द 'शाल' जिससे अंग्रेज़ी शब्द 'शॉल' बना है, एक ऐसे बुने हुए ऊनी वस्त्र का नाम है जिसे पहनावे के तौर पर उपयोग में लाया जाता रहा है। परन्तु भारत में 'शॉल' शब्द का उपयोग एक ऐसे बुने हुए वस्त्र के लिए हुआ जिसे कंधों पर ओढ़ा जाता है। किन्नौरी महिलाओं के शॉलों को 'छनली' कहा जाता है जिसका आकार सामान्यतः 2 मीटर लम्बा व एक मीटर चौड़ा होता है। इसमें डिज़ाईनों की तीन लाईनें दोनों तरफ होती हैं, जिन्हें फूल कहा जाता है। इनके मध्य में अलग डिज़ाईन की तीन लाईनें होती हैं, जिन्हें तारा कहा जाता है। लेंगचा एक अन्य प्रकार का शॉल होता है, जिसका आकार छोटा होता है। एक मीटर X एक मीटर आकार के इस वस्त्र पर सब तरफ फूल व तारे बुने होते हैं। इसे कन्धों के ऊपर ओढ़ा जाता है तथा सामने एक ब्रोच से बाँधा जाता है, जिसे 'डिगरा' कहते हैं।

किन्नौर क्षेत्र का एक और महत्त्वपूर्ण ऊनी उत्पाद दोहड़ू है। दोहड़ू का अर्थ दो तहोंवाला कम्बल है। यह एक बड़े आकार के पट्टू की तरह होता है, जिसे क्षेत्र के भीतरी भागों में कई तहें बनाकर रजाई की भान्ति उपयोग में लाया जाता है। शिमला जिले के भीतरी इलाकों में इसे 'ढाबली' कहा जाता

है। कई तहों में भी दोहड़ू का आकार इतना होता है कि यह पूरे परिवार को भी एक साथ ढक कर ठंड से बचा सकता है। आम भाषा में, शॉल के लिए जैसे दोशाला है, वैसे ही पट्टू के लिए दोहड़ू है। इसके आकार को देखते हुए परम्परागत हथकरघे पर इसे एक ही पीस में बनाना सम्भव नहीं है। अतः इसे दो या दो से अधिक भागों को जोड़ कर बनाया जाता है। इस मजबूत व खुरदरे वस्त्र को बनाने के लिए मोटी ऊन को कात कर धागा बनाया जाता है। यह वस्त्र इतना मज़बूत होता है कि इसे कई पीढ़ियों तक उपयोग में लाया जा सकता है।

किन्नौर क्षेत्र में दोहड़ू महिलाओं द्वारा ओढ़ा जाता है। इसे सरोंग की तरह लपेटा जाता है तथा कन्धों पर पिन से बाँधा जाता है। इसके दोनों छोरों पर आकर्षक डिज़ाईन बनाए जाते हैं।

दोहड़ू' का आधार प्लेन या चैकदार होता है तथा इसके छोरों पर करीब 15-20 सै.मी. के डिज़ाईन बनाए जाते हैं, जिनका वर्गीकरण डिज़ाईन की जटिलता पर निर्भर करता है। अधिक महंगे दोहड़ुओं में रंगीन व जटिल डिज़ाईन डाले जाते हैं। दोहड़ू को कमर पर 'गाची' से बाँधा जाता है।

'पट्टू' एक अन्य ऊनी उत्पाद है जिसका उपयोग किन्नौर क्षेत्र में होता है। हालाँकि कुल्लू क्षेत्र में यह अधिक प्रचलित है। पट्टू अथवा कम्बल को अधिकतर 2 मीटर X 1.50 मीटर के आकार में बुना जाता है। इसके लिए अधिकतर निम्न स्तरीय ऊन का उपयोग किया जाता है। पट्टू में सामान्यतः खुदरंग काले व सफ़ेद रंग का सम्मिश्रण विभिन्न प्रकार से किया जाता है।

कोट, जैकेट व पतलून के लिए बनाई जानेवाली स्थानीय ट्वीड को 'पट्टी' कहते हैं। यह पट्टू का सिला हुआ रूप होता है। पट्टी की चौड़ाई एक हाथ व लम्बाई सात हाथ (लगभग तीन मीटर) होती है। लम्बाई इससे अधिक भी की जा सकती है, परन्तु चौड़ाई सामान्यतः यही रहती है। पट्टी अधिकतर स्थानीय ऊन से सफेद, ब्रॉऊन या काले रंग में बनाई जाती है। इसे प्लेन, धारीदार या चैक डिज़ाईन में बनाया जाता है तथा इसकी भली प्रकार मंडाई की जाती है, ताकि यह बर्फ़, वर्षा तथा हवा से बचाव कर सके।

'गाची' पश्चिमी हिमालय क्षेत्र के स्थानीय लोगों का एक प्राचीन ऊनी वस्त्र है। यह इस क्षेत्र के परम्परागत पहनावों का एक अभिन्न हिस्सा है। इसे कमरबंद की तरह महिलाओं व पुरुषों द्वारा कमर के गिर्द पहना जाता है। यह एक बहुत व्यावहारिक वस्त्र है, क्योंकि यह न केवल भारी बोझ उठाए हुए पहाड़ी लोगों को सीधा टिकाये रखता है, बल्कि दराट या अन्य उपयोगी

चीज़ों को रखने के लिए जगह भी देता है। गाची के सिरों को शॉलों की तरह रंगीन डिज़ाईनों से सजाया जाता है।

'मफ़लर' या गुलबन्द इस क्षेत्र के ऊनी उत्पादों में एक नया नाम है। बदलते युग में मफ़लर का प्रयोग फैशन के तौर पर अधिक हो रहा है तथा ठंडे पर्वतीय क्षेत्र के लोगों को अन्य ऊनी उत्पादों की तरह ठंड से बचाने में इसका उपयोग सीमित है। ऊन, पशमीना या रफल से विविध प्रकार के मफलर बनाए जाते हैं। सामान्यतः इसकी चौड़ाई 30 सै.मी. तथा लम्बाई 1.50 मीटर होती है। ये प्लेन व डिज़ाईनवाले होते हैं और इनमें शॉलों के डिज़ाईनों का ही प्रयोग किया जाता है।

किन्नौर तथा स्पीति क्षेत्र का एक अन्य ऊनी उत्पाद 'गुदमा' है। गुदमा एक चौड़ी ऊनी चादर की तरह होता है जिसे बिस्तर पर ढकने के लिए प्रयोग में लाया जाता है। गर्म व मुलायम गुदमे का सामान्य आकार 1.50 मीटर चौड़ा व चार मीटर लम्बा होता है, जिससे इसे दोहरा लपेट कर शरीर को ढका जा सकता है। गुदमे को अच्छी तरह ब्रश से रगड़ा जाता है, जिससे इसके रेशे फ़र की भान्ति उभरे रहते हैं। गुदमा काले या सफेद रंग में बनाया जाता है तथा कभी-कभी इसकी किनारियों पर लाल धारी भी बनाई जाती है।

किन्नौर का एक अन्य विशेष उत्पाद 'खम्बरुदार पाजामा' है। इस पाजामे के लिए 3.50 मीटर लम्बा व आधा मीटर चौड़ा कपड़ा बुना जाता है। इसे ऊन या पशमीना से बनाकर उस पर डिज़ाईन बुना जाता है। यह डिज़ाईन कपड़े के दोनों सिरों पर रंगीन धागे से खूबसूरती से डाला जाता है, जो पाजामे का निचला हिस्सा बनाता है। लोक नर्तकों द्वारा पहना गया 'खम्बरूदार पाजामा' उनके नृत्य को और दर्शनीय बना देता है।

'किन्नौरी टोपी' भी सिर पर पहना जानेवाला एक विशिष्ट उत्पाद है। किन्नौरी टोपी स्त्री व पुरुष दोनों पहनते हैं। किन्नौरी व बुशहरी टोपियाँ एक समान होती हैं तथा उनमें अन्तर सिर्फ पल्ले के रंग का होता है। परम्परागत बुशहरी टोपी के पल्ले को हरे रंग की शनील से सजाया जाता है, जबकि किन्नौरी टोपी की शनील गाढ़े लाल रंग की होती है।

इसके अतिरिक्त किन्नौर में देसी ऊन से गलीचे बनाने की भी परम्परा है। ये गलीचे सामान्यतः 3 फुट X 6 फुट X 9 फुट के आकार के होते हैं। परन्तु आवश्यकतानुसार छोटे आकार के गलीचे भी बनाए जा सकते हैं। परम्परानुसार गलीचे पर तिब्बती डिज़ाईन डाले जाते हैं, जिनमें ड्रेगन, पक्षी आदि प्रमुख हैं। गलीचों के हथकरघे शॉलों के हथकरघों से भिन्न होते हैं।

किन्नौरी डिज़ाईनों पर बुनकर के परिवेश, धर्म, परम्परा तथा जीवन-दर्शन का बहुत प्रभाव देखने को मिलता है। बहुत से डिज़ाईनों में बौद्ध धर्म के प्रतीक रहते हैं। सामान्यतः किन्नौरी बुनाई के डिज़ाईन में एक रंग का अधिक प्रयोग होता है तथा शेष रंग छुटपुट रूप में प्रयुक्त होते हैं। अधिकतर लाल रंग का प्रयोग होता है, इसका पीले, नीले तथा थोड़ी मात्रा में सफेद व हरे रंग के साथ मिश्रिण किया जाता है। ये रंग पाँच तत्त्वों के प्रतीक हैं। जब बौद्ध डिज़ाईन इन पाँच रंगों में निष्पादित किए जाते हैं तो वे एक रहस्यवादी आध्यात्मिकता का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह सम्मिश्रण अध्यात्म, सत्य व ज्ञान का प्रतीक है, जो इन शॉलों को एक अलग प्रकार की धार्मिक व सौन्दर्य-बोधात्मक गरिमा प्रदान करता है। रंगों के इस सम्मिश्रण से ये शॉलें एक खूबसूरत कपड़ा न होकर मंडल की भान्ति लगती हैं। हालाँकि किन्नौरी उत्पाद दूसरे रंगों में भी बनाए जाते हैं, परन्तु मुख्यतः इन्हीं पाँच महत्त्वपूर्ण रंगों का प्रयोग होता है। इस प्रकार किन्नौरी ऊनी उत्पादों में बौद्ध धर्म की छाप स्पष्ट दिखाई देती है।

किन्नौरी शॉलों पर खूबसूरत कलाकारी हेतु बौद्ध धर्म के प्रतीकों के प्रयोग से कला के नमूनों का धार्मिक महत्त्व हो जाता है तथा ये मात्र कला की वस्तु न रह कर अध्यात्म से जुड़ जाते हैं।

किन्नौरी ऊनी उत्पादों पर पाए जानेवाले कुछ लोकप्रिय डिज़ाईन निम्नलिखित हैं –

1. बोदतंका, 2. बोलटपरू, 3. बुम्बा, 4. चामुंग तेको, 5. चथम, 6. छोलो या रेपांग, 7. छेवहिन, 8. छोकतिन या छुसतिन या छोरतेन, 9. छोलो पानमा, 10. दीवार-ए-चीन, 11. दोर्जे, 12. दोर्ज गीथम, 13. दोर्जे तनकद, 14. गऊ टोपरू या घू टोपरू, 15. गऊ, 16. गीथंग चांगरी, 17. गियानक चांगरी, 18. गायत पतलम या रंगशी, 19. गुड़ गुड़, 20. गोसांग-टोपरू, 21. ग्यां तुंग या थंका, 22. होम पतक, 23. खाबा टीवी, 24. खचब, 25. ख्यूतिंग, 26. पाल्पे, 27. पानमा, 28. पीदो टोपरू या गोल छंग, 29. प्याज़ पतरंग, 30. प्युत टोपरू, 31. रैबलॉक, 32. रोकरो खंग, 33. शिंगलो, 34. शोराच, 35. तान्बा, 36. तंका या टोपरू, 37. तर शूल टपरू या त्रिशूल, 38. थंगोमा, 39. थेलीबेल, 40. यगूमा, 41. यंग रंग, 42. यंग रंग पकदेल।

किन्नौरी बुनाई कला का स्पष्ट प्रभाव कुल्लू की बुनाई-कला पर दिखाई देता है। यह कहा जा सकता है कि किन्नौरी बुनाई कुल्लू बुनाई की पूर्वाधिकारी है। किन्नौरी बुनाई को सर्वप्रथम 1830 ई. के दशक में कुल्लू

घाटी में लाया गया, जब किन्नौर के रोपा गाँव के बुनकर स्थानीय शासक के जुल्म से बचने के लिए कुल्लू पहुँचे। यहाँ इन बुनकरों ने अपनी कला जारी रखी। अपनी डिज़ाईन तकनीक कुल्लू के लोगों को सिखाने के लिए इन्हें प्रोत्साहन दिया गया। उससे पूर्व कुल्लू में सिर्फ प्लेन या चैक डिज़ाईन ही बनाए जाते थे। उनके शॉलों व पट्टुओं पर कोई डिज़ाईन नहीं होते थे। किन्नौरी छनली, लेंगचा व दोहड़ू पर बनाए जानेवाले डिज़ाईन कुल्लूवी डिज़ाईनों को प्रोत्साहन देने वाले बने। किन्नौरी डिज़ाईनों को साधारण रूप में थोड़ा बड़ा कर के कुल्लू डिज़ाईन बनाए गए। कुल्लू डिज़ाइनों में रंगों के सम्मिश्रण में भी अन्तर किया गया तथा उन्हें अधिक चमकीले व अलग तरह के रंगों में प्रस्तुत किया गया, जिससे वे किन्नौरी डिज़ाईनों से भिन्न हो गए।

समय के साथ किन्नौरी व कुल्लूवी बुनाई की परम्परा में गिरावट आई है। यह गिरावट कुल्लूवी बुनाई में कहीं अधिक दिखती है। परम्परागत डिज़ाईनों को छोड़ कर नए प्रकार के डिज़ाईन चमकीले रंगों में प्रस्तुत किए जा रहे हैं, जिससे गुणवत्ता प्रभावित हुई है। कुल्लूवी शॉलों को लुधियाना में निर्मित पॉवरलूम के उत्पादों द्वारा भी गंभीर क्षति पहुँचाई जा रही है। यदि समय रहते इस सम्बंध में गंभीर प्रयास नहीं किए गए तो कुल्लू की बुनाई-परम्परा को अपूर्णीय क्षति होगी।

किन्नौरी बुनाई अभी अपना परम्परागत स्वरूप बनाए हुए है, इसीलिए अभी किन्नौरी बुनाईवाले उत्पादों की बाज़ार में मांग है। आज इन परम्परागत कलाकृतियों को बदलते बाज़ार की मांग से खतरा पैदा हो गया है। भारतीय अर्थव्यवस्था में तेज़ी से हो रहे बदलाव के कारण बुनकरों को आर्थिक तंगी के दौर से गुज़रना पड़ रहा है। बाज़ार की प्रतिस्पर्धा के कारण बुनकर परम्परागत डिज़ाईनों को छोड़ कर कम मेहनतवाले तथा सस्ते किस्म के उत्पाद बनाने पर विवश हो रहे हैं। युवा पीढ़ी भी बुनाई के कार्य में पर्याप्त आय न होने के कारण इस ओर आकर्षित नहीं हो रही है। इसके लिए बुनाई कला में परम्परा को छोड़े बगैर कुछ बदलाव लाने की आवश्यकता है। हमें उत्पादों का विविधीकरण करना होगा। बाज़ार की माँग के अनुसार परम्परागत डिज़ाईनों में नए उत्पाद तैयार करने होंगे। स्थानीय ऊन की गुणवत्ता में सुधार करना होगा। इसे ऑस्ट्रेलियाई मैरिनो ऊन की भान्ति ज़्यादा मुलायम व बेहतर बनाना होगा। रंगों, डिज़ाईनों तथा आकार आदि में नए प्रयोग करने होंगे, ताकि परम्परागत शॉल को एक नया रूप दिया जा सके। पुराने परम्परागत किन्नौरी डिज़ाईनों का पुनरुद्धार करना होगा, जिन्हें बुनकरों ने

बनाना बन्द कर दिया है। परम्परागत डिज़ाईन को साधारण बना कर इन पर होनेवाली मेहनत व लागत को भी कम करने का प्रयोग करना होगा। बुनकरों को आत्म-निर्भर बनाने की दृष्टि से डिज़ाईनों में नए प्रयोग व अनुसन्धान करने के लिए प्रोत्साहित करना होगा, चूँकि बाहरी दक्षता से इन उत्पादों का परम्परागत रूप प्रभावित हो सकता है। बुनाई क्षेत्र में अधिक से अधिक रोज़गार के अवसर पैदा करने होंगे ताकि और लोग बुनाई की कला की ओर आकर्षित हो सकें तथा इससे बुनकरों के जीवन-स्तर में सुधार हो सके।

किन्नौरी ऊनी उत्पाद भारत की सांस्कृतिक धरोहर का हिस्सा है तथा उन्हें अपनी कलात्मकता के लिए वह स्थान मिलना चाहिए, जिसके वे हकदार हैं। इस ओर विभिन्न स्तरों पर व्यापक प्रयास करने की आवश्यकता है, ताकि हमारी इस सांस्कृतिक धरोहर को बचाया जा सके और इसका प्रभावी ढंग से पोषण हो।

संदर्भ

1. टैक्सटाइलज़, कॉस्टयूमज़ एण्ड और्नामैन्टस ऑफ द वैस्टर्न हिमालय : डॉ. ओ.सी. हाण्डा; इन्डस पब्लिशिंग कम्पनी, 1998
2. क्राफ्टज ऑफ हिमाचल प्रदेश : सुभाषिनी आर्यन तथा आर.के. दत्ता गुप्ता; मैपिन पब्लिशिंग प्राइवेट लिमिटिड, 1993
3. किन्नर लोक साहित्य : डॉ. बंशी राम शर्मा, ललित प्रकाशन, 1976
4. वीविंग ट्रैडिशन्ज़ एलाँग द वूल रोड इन इण्डिया : आर. कॉपले सुजैट पैटरसन द्वारा लिखित लेख
5. द आर्ट ऑफ वीविंग, रूरल क्राफ्ट सर्वे, हिमाचल प्रदेश, 1968

विपाशा : अंक-151, मार्च-अप्रैल, 2011 अंक से